3.5

(उत्तर प्रदेश शिक्षा-विभाग द्वारा इन्टरमीडिएट कक्षाओं के लिए स्वीकृत)

पद्य-भारती

[हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों की प्रतिनिधि रचनाओं का संकलन]

सम्पादक

डा० छैलबिहारीलाल गुप्त,

एम० ए०, डी० फिल्०, डी० लिट्०, यू० पी० ई० एस०,

प्रधानाचार्य

ठा० देबसिंह बिष्ट राजकीय महाविद्यालय, नैनीताल

प्रकाशक

विद्या भवन

अमीनाबाद पार्क, लखनऊ

१९७४

प्रकाशक
विद्या भवन
अमीनाबाद पार्क, लखनऊ

मुद्रक :
सेन्ट्रल प्रेस
चौलक्खा, लखनऊ

प्राक्कथन

प्रस्तुत संकलन उत्तर-माध्यमिक कक्षाओं के लिए पाठ्यक्रम-संबंधी नवीनतम निर्देशों को ध्यान में रखकर तैयार किया गया है। कवियों का चुनाव बहुत सतर्कता के साथ किया गया है। आदिकाल के कवियों को भाषा की जटिलता के कारण तथा उत्तर-मध्यकाल के बहुत से कवियों को उनकी शृंगारिकता के कारण छोड़ दिया गया है। शेष कवियों में से केवल उन्हीं को चुना गया है, जिनकी उत्कृष्टता श्रेष्ठ आलोचकों द्वारा निर्विवाद रूप से मान्य हो चुकी है। चुने हुए कवियों की रचनाएँ प्राप्त काव्य-संग्रहों से संकलित न की जाकर उनके मूलग्रंथों से ली गई हैं। काव्यगत सौंदर्य और नैतिकता के अतिरिक्त विविधता का भी ध्यान रखा गया है। प्रत्येक कवि की अच्छी से अच्छी रचनाएँ संकलित करते हुए यह बात भी सदैव दृष्टि में रखी गयी है कि कोई दुर्बोध या क्लिष्ट रचना संग्रहीत न हो जाय। कवियों के परिचय में उनकी प्रमुख विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया गया है। तिथियों के संबंध में इन संक्षिप्त परिचयों में कोई विवाद संभव नहीं था, अतएव विद्वानों द्वारा मान्य तिथियों को ही गृहीत किया गया है। प्रत्येक कवि की रचनाओं के अन्त में कुछ आवश्यक प्रश्न भी दे दिये गए हैं जिससे विद्यार्थियों को आलोचनात्मक अध्ययन के लिए उपयुक्त संकेत प्राप्त हो सके। इन प्रश्नों का चुनाव करते समय विद्यार्थियों के स्तर का पूर्ण ध्यान रखा गया है। "हिन्दी कविता" शीर्षक भूमिका में हिन्दी काव्य के विकास पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। पुस्तक के अन्त में कठिन शब्दों के अर्थ भी दे दिए गए हैं तथा निर्धारित पाठ्यक्रम के

अनुसार रस-छन्द-अलंकार-विवेचन भी किया गया है। आशा है अपने प्रस्तुत रूप में हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों की प्रतिनिधि रचनाओं का यह संकलन विद्यार्थियों के हृदय में हिन्दी कविता के अध्ययन के प्रति अभि-रुचि उत्पन्न करने में सहायक होगा।

सम्पादक भारती के उन महान् उपासकों का चिर-ऋणी है जिनकी उत्कृष्ट काव्य-कृतियों को इस संग्रह में स्थान दिया गया है। साथ ही वह उन श्रेष्ठ आलोचकों का भी आभार हृदय से स्वीकार करता है, जिनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों से परिचय और भूमिका लिखने में उसने सहायता ली है। रस-छन्द-अलंकार-विवेचन में डा० ऋषीकुमार चतुर्वेदी द्वारा एवं शब्दार्थ-विवेचन में श्री भगवत प्रसाद द्वारा प्रदत्त सहयोग विशेष स्मरणीय है।

——सम्पादक

अनुक्रम

हिन्दी कविता

आदिकाल (१०००–१४०० ई०)

१००० ई० के आसपास जब साहित्य की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़कर पुरानी हिन्दी का रूप धारण करने लगी थी, उत्तरी भारत का राजनीतिक वातावरण आक्रमणों और युद्धों की बहुलता के कारण अत्यधिक विक्षुब्ध हो उठा था। इस युग में काव्य-प्रतिभा-संपन्न अनेक चारणों ने तत्कालीन लोक-भाषा का आश्रय ग्रहण करके शृंगार-सिक्त वीर-रस-प्रधान काव्यों की रचना की। युद्धों के आँखों देखे चित्रोपम वर्णनों तथा प्राणों का मोह न करने वाली असाधारण वीरता के अद्भुत दृश्यों से तो इस काल का साहित्य परिपूर्ण है ही, साथ ही 'वीरभोग्या वसुंधरा' के सिद्धान्त के अनुसार विजयश्री-प्राप्त वीरों के विलास-वर्णन में भी नहीं की गई है। वास्तव में इस काल के अधिकांश युद्धों के मूल में कन्यापहरण ही प्रमुख कारण के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

आदिकाल की, जिसे वीरगाथा काल भी कहा गया, चन्द बरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' (१२०० ई० के निकट) नामक विशाल काव्यग्रंथ सबसे महत्वपूर्ण रचना है। इसमें ६९ सर्ग हैं जो ढाई हजार पृष्ठों में पूर्ण हुए हैं। नरपति नाल्ह का 'बीसलदेव रासो' (१९५५ ई०) तथा जगनिक का 'आल्हा' अथवा 'परमाल रासो' (रचना-काल ११७३ ई० के निकट) इस युग के अन्य प्रमुख काव्य हैं। किन्तु राजनीतिक उलट-फेर तथा अशान्ति के कारण ये रचनाएँ अपने मूल रूप में सुरक्षित नहीं रह सकी हैं, और आज ये जिस रूप में प्राप्त हैं उसे देखकर इनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं कही जा सकती।

इस काल के जैनियों और सिद्धों के अपभ्रंश साहित्य का उल्लेख तो यहाँ अनावश्यक है, किन्तु ब्रजभाषा और खड़ी बोली का प्राचीनतम रूप उपस्थित करने वाले सुकवि अमीर खुसरो (मृत्यु १३२४ ई०) को हम नहीं भुला सकते। जब इनके समकालीन अन्य लेखकों की काव्य-भाषा प्राकृत और अपभ्रंश की रूढ़ियों से जकड़ी हुई थी, इन्होंने अपने युग की व्यवहृत भाषा को ही अपनी रचनाओं में प्रयुक्त करने का साहस दिखाया। इनकी पहेलियों और मुकरियों में ठेठ खड़ी बोली के दर्शन होते हैं तथा गीतों और दोहों में ब्रजभाषा के।

पूर्व-मध्यकाल (१४००—१६०० ई०)

ईसवी सन् की प्रथम दस शताब्दियाँ, जिनमें अधिकांश पुराणों की रचना हुई थी; भक्ति के सशक्त आन्दोलन का युग थीं। रामानुज, निम्बार्क तथा मध्व जैसे आचार्यों ने भक्ति को सुदृढ़ दार्शनिक आधार प्रदान करने के लिए इस आन्दोलन को और अधिक व्यापक बनाया तथा रामानन्द, चैतन्य और वल्लभ ने १५वीं एवं १६वीं शताब्दियों में राम-कृष्ण की भक्ति की प्रबल धारा से सारे उत्तर भारत को पूर्णतया आप्लावित कर दिया। चौरासी सिद्धों की रचनाओं से पुष्ट हठयोग-प्रधान नाथ-संप्रदाय का प्रभाव तो उत्तर भारत में पहले से ही चला आ रहा था। इसी समय मुसलमान सूफी संतों की प्रेम-साधना का भी भारतीय धर्म-भावना से योग हुआ। असाधारण-प्रतिभा-युक्त श्रेष्ठ कवियों ने इन विभिन्न धार्मिक विचारधाराओं को अपनी सशक्त वाणी द्वारा जनता के बीच में प्रचारित एवं प्रसारित किया। इस प्रकार हिंदी कविता चार धाराओं में विभक्त होकर जन-जीवन को आन्दोलित करने लगी। इनमें से दो धाराएँ निर्गुण की उपासना से तथा अन्य दो सगुण की उपासना से संबद्ध हैं। निर्गुण की उपासना की दो धाराओं में से एक का लगाव हठ-योगियों के ज्ञानमार्ग से तथा दूसरी का सूफियों के प्रेममार्ग से है।

सगुण-उपासना की दो धाराएँ क्रमशः कृष्ण और राम की भक्ति को आधार मानकर चली हैं।

निर्गुण-उपासना की ज्ञान-मार्गी धारा का प्रवर्तन संत-शिरोमणि महात्मा कवीरदास जी ने किया। कवीरदास जी ने (१३९९-१५१८ ई०) तथा इस धारा के अन्य कवि यद्यपि मूलरूप से हठयोग की साधना करने वाले नाथपंथी योगियों की परम्परा में थे; किंतु संकुचित साम्प्रदायिक मनोवृत्ति का सर्वथा त्याग करके उन्होंने मानव-कल्याण के लिए प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय से उसकी श्रेष्ठ बातों को निःसंकोच ग्रहण किया। वेदान्त-दर्शन का अद्वैत सिद्धान्त, सूफियों की प्रेम-साधना तथा वैष्णवों की अहिंसा और भक्ति इन कवियों के काव्य और व्यक्तित्व के अपरिहार्य अंग हैं। आडम्बर से उन्हें चिढ़ थी तथा पाखंड का खंडन करने के लिए वे सदैव तत्पर रहते थे। सद्‌गुरु द्वारा निर्दिष्ट साधना से ईश्वर की प्राप्ति में उनका विश्वास था तथा परमात्मा से साक्षात्कार के अनुभव को उन्होंने लौकिक प्रतीकों की भाषा में अभिव्यक्त किया है। इस धारा के अधिकांश कवि वहुश्रुत और मेधावी तो थे, किन्तु सुपठित विद्वान् नहीं थे। (स्वयं कवीरदास जी ने 'मसि कागद' हाथ से छुआ तक नहीं था।) फिर भी उनके व्यक्तित्व की मस्ती तथा उनकी वाणी की अकृत्रिमता में कुछ ऐसा आकर्षण था, जिसने एक विशाल जन-समूह को उनका प्रशंसक, भक्त तथा अनुगत बना दिया था। जन्म और जाति के आधार पर ऊँच-नीच के भेद का उन्होंने सशक्त विरोध किया था जिससे तथाकथित निम्न वर्ग के लोगों को आशा का एक नया संदश प्राप्त हुआ। सिख संप्रदाय के आदि गुरु नानक (१४६९-१५३८ ई०), प्रेम-भाव का सरस और गम्भीर निरूपण करने वाले दादूदयाल (१५४४-१६०३ ई०), सुशिक्षित होने के कारण सुसंस्कृत रचना करने वाले सुन्दरदास (१५९६-१६८९ ई०) तथा मस्त-महाराज मलूकदास (१५७४-१६८२ ई०) इस धारा के प्रमुख कवि हैं।

खंडन-मंडन के झगड़े से दूर रहकर ठेठ अवधी भाषा में लोक-प्रचलित भारतीय कहानियों को सरस काव्य-रूप प्रदान करने वाले मुसलमान सूफी सन्तों ने हिन्दी साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। ये कहानियाँ दोहा-चौपाई छंदों में लिखी गयी हैं, तथा किसी राजकुमार अथवा राजा के किसी अलौकिक सुन्दरी राजकुमारी के प्रति आकर्षण से आरम्भ होती हैं। राजा प्रेम में पागल होकर घर से निकल पड़ता है, तथा अनेक कष्टों को झेलकर अन्त में उस राजकुमारी को प्राप्त कर लेता है। ये रचनाएँ लौकिक कहानी के रूप में तो अपने-आप में पूर्ण और रोचक हैं ही, साथ ही इनमें अध्यात्मिक प्रेम के संकेत भी मिलते हैं। राजकुमार और राजकुमारी क्रमशः साधक और ईश्वर के प्रतीक होते हैं। हिंदी में प्रेम-मार्गी निर्गुण काव्य-धारा को प्रौढ़ता प्रदान करने का श्रेय मलिक मुहम्मद जायसी को (१५००-१५४२ ई०) है जिनका 'पद्मावत' हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य निधि है। इस धारा में जायसी से पहले की दो रचनाएँ प्राप्त हैं: (१) कुतुबन की 'मृगावती' (१५०१ ई०) जिसमें चन्द्रनगर के राजकुमार तथा कंचनपुरी की राजकुमारी की प्रेम-कथा वर्णित है तथा (२) मंझन की 'मधुमालती' जिसमें कनेसर नगर के राजकुमार तथा महारस नगर की राजकुमारी प्रमुख पात्र हैं। जायसी के बाद इस परम्परा में लिखी गई रचनाओं में उसमान की 'चित्रावली' (१६१३ ई०) तथा शेख नबी (१६१९ ई० वर्तमान) का 'ज्ञानदीप' उल्लेखनीय है।

मध्ययुग में उत्तर भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक जितनी व्यापकता कृष्ण-काव्य की धारा को प्राप्त हुई उतनी शेष तीनों धाराओं में से किसी अन्य को न हो सकी। निम्बार्क, चैतन्य और वल्लभ आदि आचार्यों की प्रेरणा से अनेक श्रेष्ठ कवियों की वाणी राधा और कृष्ण के पौराणिक व्यक्तित्व को और भी अधिक मनोरम रूप से प्रस्तुत करने के लिए तत्पर हुई। अपनी कल्पना के द्वारा इन कवियों ने राधा-कृष्ण और गोपियों की प्रेम-लीलाओं में अनेक नवीन एवं हृदयस्पर्शी परिस्थितियों की उद्भावना की। १४०० ई० के पूर्व बारहवीं शताब्दी में

सस्कृत कवि जयदेव अपनी अमृतोपम मधुर वाणी में राधा और कृष्ण के प्रेम-विलास का अत्यन्त सजीव चित्र उपस्थित कर चुके थे, तथा चौदहवीं शताब्दी में बंगला कवि चंडीदास ने प्रेमोन्माद की साकार प्रतिमा राधा की मर्मभेदी व्यथा को शब्दों में बांधने का सफल प्रयत्न किया था। १४०० ई० के आसपास हिन्दी के मैथिल-कवि विद्यापति ने यौवन और शैशव की संधि पर खड़ी हुई राधा के अतुल सौंदर्य-संपदा तथा विलासविभ्रम से पूर्ण व्यक्तित्व को सरस गीतों के साँचे में ढालकर हिन्दी में कृष्ण-काव्य-धारा का सूत्रपात किया। महाकवि सूरदास (१४७८-१५८३ ई०) ने कृष्ण-लीला के काव्यमय वर्णन को विवधता और विस्तार दोनों की दृष्टियों से चरम उत्कर्ष प्रदान किया। कृष्ण की बाल-लीला के वर्णन में तो वे प्रायः अकेले ही हैं। वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग के अनुयायी अष्टछाप के अन्य कवियों ने (कृष्णदास, परमानन्ददास, कुंभन-दास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्दस्वामी) भी कृष्ण-लीला संबंधी विशाल साहित्य का निर्माण किया। अपने गीतों की मधुरिमा के कारण कृष्ण की वंशी के अवतार कहे जाने वाले राधाबल्लभीय संप्रदाय के प्रवर्तक हितहरिवंश जी ने (जन्म १५०२ ई०) राधा-कृष्ण के संयोग-शृंगार की झांकी सजाई है। राजस्थान की महान कवयित्री मीरांबाई ने (जन्म १५०० ई० के निकट) कृष्ण की प्रेमिका के रूप में जिन अकृत्रिम भावों की अभिव्यंजना की है वे किसी भी साहित्य के गौरव हो सकते हैं। इस प्रकार मुक्तक गीतकाव्य के सहज माधुर्य-युक्त प्रवाह में चिरकाल तक बहते हुए कृष्ण-काव्य ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है।

चौदहवीं शताब्दी के अन्त तथा पंद्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में रामानंद नाम के एक महान संत हुए जिन्होंने राम को भक्ति का प्रचार किया। कबीर तथा दूसरे निर्गुण सन्तों ने उनसे राम-नाम की दीक्षा ग्रहण करके राम की भक्ति को व्यापक बनाया। अवतारवाद का खंडन करने वाले इन निर्गुण सन्तों के राम दशरथ-पुत्र न होकर निर्गुण ब्रह्म के पर्याय थे। किन्तु स्वामी रामानंद स्वयं

सगुणोपासक थे । राम के सगुण रूप की भक्ति को साहित्य के सशक्त माध्यम से जनता के हृदय तक पहुँचाने का सुयोग गोस्वामी तुलसीदास का (१५३२-१६२३ ई०) अविर्भाव होने पर प्राप्त हुआ। तुलसीदास जी ने मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के चरित को विभिन्न काव्य-शैलियों में पूर्णता तक पहुँचाकर इतना लोकप्रिय बना दिया कि फिर उनके पश्चात् बहुत समय तक इस विषय पर लिखने का दूसरे कवियों को साहस ही नहीं हुआ। नाटकीय और प्रत्युत्पन्नमति-पूर्ण संवादों से युक्त केशवदास की 'रामचन्द्रिका' (१६०१ ई०) रामचरित पर तुलसी की रचनाओं के अतिरिक्त इस काल का एकमात्र महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

उत्तर-मध्यकाल (१६७०-१८०० ई०)

अपने 'रसिक-प्रिया' (१५९१ ई०) और 'कवि-प्रिया' (१६०१ ई०) नामक साहित्य-शास्त्र-संबंधी ग्रंथों की रचना करके आचार्य केशवदास ने ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में रीति-काव्य की परम्परा को जन्म दिया। उनके प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व से प्रेरणा ग्रहण करके अलंकार, नायिकाभेद तथा साहित्यशास्त्र के अन्य अंगों पर अनेक आचार्य-कवियों ने श्रेष्ठ रीति-काव्य ग्रंथों का निर्माण किया। यद्यपि गद्य-साहित्य के निर्माण का आरम्भ हो चुकने के कारण १८०० ई० के बाद का समय आधुनिक काल के अंतर्गत आता है किन्तु कविता के क्षेत्र में रीति-ग्रंथों की परंपरा तथा उत्तर-मध्यकाल की अन्य प्रवृतियाँ उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक चलती रहीं। गद्य के माध्यम के अभाव के कारण इन रीति-ग्रंथकार कवियों का शास्त्रीय विवेचन तो बहुत गम्भीर एवं तर्कपूर्ण नहीं हो सका है, किंतु कृष्ण की श्रृंगार-लीला का चित्रण करने वाली अलंकार, नायिका आदि के उदाहरणों के रूप में लिखित इनकी मुक्तक काव्य-रचना अत्यधिक सरस एवं हृदयग्राही हुई है। चिंतामणि त्रिपाठी (जन्म १६१० ई० के निकट), मतिराम (जन्म १६१७ ई० के निकट), भूषण (जन्म १६१३ ई० के निकट), देव (जन्म १६७३ ई० के निकट), भिखारीदास (कविता काल १७३०-५० ई०) तथा पद्माकर (१७५३-१८३३ ई०) इस युग के

प्रमुख रीति-ग्रंथकार कवि हैं। इनमें एकमात्र भूषण ने अपने उदाहरण शृंगार रस में न लिखकर वीर रस में लिखे हैं। अपनी रचना के कला-पक्ष के शृंगार में अत्यधिक 'सावधान' रहने वाले कविवर सेनापति (१६००-१६४६ ई०) तथा साहित्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों को ध्यान में रखकर सरस दोहों की रचना करने वाले उत्तर-मध्यकाल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि बिहारी का (१६०३-१६६३ ई०) उल्लेख भी, इनके रीति-काव्य की परम्परा से पूर्णतया अभिभूत होने के कारण, यहीं पर कर देना समीचीन होगा।

उत्तर-मध्यकाल में रीति-काव्य के समानान्तर एक दूसरी धारा स्वच्छन्द प्रेम-काव्य की भी बह रही थी। इस धारा के कवियों ने, जिनमें रसखान (रचना काल १६०० ई० के निकट), घनानंद (१६९०-१७६० ई०) और ठाकुर (१७६६-१८२३ ई०) प्रमुख हैं, अपने भावों को नायिका-भेद और अलंकार आदि की सीमाओं में न बांधकर मुक्त रूप से अभिव्यक्त किया है। इन प्रेमोन्मत्त कवियों की प्रेम-व्यंजना जो रीतिबद्ध कविता की भाँति ही प्रायः कृष्ण, राधा और गोपियों को आलंबन मान कर चली है, अत्यधिक मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी हुई है।

शृंगार की इन दोनों (रीतिबद्ध और रीतिमुक्त) धाराओं के अतिरिक्त इसी युग में वीर रस तथा नीति-काव्य की धाराएँ भी प्रवाहित होती रहीं। रीति-ग्रंथकार कवियों में से केशव ने 'वीरसिंहदेव-चरित' तथा पद्माकर ने 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' नामक वीर रस के काव्य लिखे। भूषण के तीनों ग्रंथ ('शिवराज-भूषण', 'शिवा-बावनी' तथा 'छत्रसालदशक') वीर रस से ही सम्बंधित हैं। लाल कवि का (मृत्यु १७०७ ई० के निकट) 'छत्र-प्रकाश' तथा सूदन का (कविताकाल १७६० ई०) 'सुजान-चरित' इसी युग के वीर रस के प्रसिद्ध काव्य हैं। नीति-काव्य के लेखकों में रहीम (१५५६-१६२६ ई०), वृन्द

(रचनाकाल १७०४ ई०), गिरिधर (जन्म १७१३ ई०) और दीन-दयाल गिरि (१८०३-१८५० ई०) प्रमुख हैं।

आधुनिक काल (१८०० ई० से अब तक)

गद्य के उद्‌भव और प्रसार के साथ आधुनिक युग का आरम्भ हो चुकने पर भी उन्नीसवीं शताब्दी में काव्य-रचना की दृष्टि से मध्ययुग का विस्तार ही दृष्टिगोचर होता है। आधुनिक युग के प्रकाश-स्तम्भ भारतेन्दु हरिश्चंद्र (१८५०-१८८५ ई०) के अधिकांश काव्य-साहित्य में भक्तिकाव्य और रीतिकाव्य की ही प्रवृतियों का सन्निवेश है। वे खड़ी बोली के गद्य की एकमात्र भाषा के रूप में स्वीकृत हो चुकने पर भी काव्य की भाषा के रूप में एकमात्र ब्रजभाषा को ही स्वीकार करते थे। ब्रजभाषा काव्य की इस परम्परा को जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (१८६६-१९३२ ई०) जैसे उत्कृष्ट कवियों ने बीसवीं शताब्दी तक जीवित रखा है।

कविता के क्षेत्र में आधुनिक युग का आरम्भ पंडित श्रीधर पाठक (१८५९-१९२८ ई०) की खड़ी बोली की रचना एकान्तवासी योगी (१८८६ ई०) के प्रकाशन से मानना चाहिए। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (१८६५-१९४७ ई०) तथा डा० मैथिलीशरण गुप्त ने (१८८४-१९६४ ई०) खड़ी बोली को भली-भाँति सँवार और निखार कर स्थायी रूप से काव्य-भाषा का पद प्रदान किया। पं० नाथूराम शर्मा 'शंकर' (१८५९-१९३५ ई०), पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' (जन्म १८८३ ई०) तथा पं० रामनरेश त्रिपाठी (जन्म १८८९ ई०) इसी पीढ़ी के अन्य श्रेष्ठ कवि हैं।

अपने उत्थान के प्रथम चरण में खड़ी बोली की कविता भावना के वेग तथा कल्पना की रंगीनी की अपेक्षा इतिवृत्तात्मकता में अधिक ग्रथित थी। "अतः खड़ी बोली की कविता में पद-लालित्य, कल्पना की उड़ान" भाव की वेगवती व्यंजना, वेदना की विवृति, शब्द-प्रयोग

की विचित्रता इत्यादि अनेक" बातों को देखने की बढ़ती हुई आकांक्षा के फलस्वरूप छायवाद नाम की एक नयी काव्य-धारा का उद्भव हुआ। इस नयी धारा की कविता में खड़ी बोली को, जो अपने खड़ेपन के कारण नीरस और कर्कश समझी जाती थी, एक अभूतपूर्व मधुरिमा-मयी सुकुमारता प्राप्त हुई। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में अभिधा के स्थान पर लाक्षणिकता को प्रमुखता मिली, जिसके विशेषण-विपर्यय, विरोध-मूलक वैचित्र्य, भावनाओं का मानवीकरण, सादृश्य अथवा साधर्म्य के आधार पर अप्रस्तुत प्रतीकों की योजना तथा प्रकृति-चित्रण द्वारा मानवीय भावों की अभिव्यंजना प्रधान उपादान हैं। श्री जयशंकर 'प्रसाद' (१८९०-१९३७ ई०), पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (१८९६-१९६१ ई०), पं० सुमित्रानन्दन पंत (जन्म १९०१ ई०) तथा श्रीमती महादेवी वर्मा (जन्म १९०७ ई०) इस काव्य-धारा के चार स्तम्भ हैं।

देश के स्वतंत्रता-आन्दोलन को प्रतिध्वनित करने वाली कविता की राष्ट्रीय धारा उपर्युक्त दोनों धाराओं के समानान्तर निरंतर बहती रही है। डा० मैथिलीशरण गुप्त, पं० गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही', पं० माखनलाल चतुर्वेदी (जन्म १८८८ ई०), पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (१८९७-१९६० ई०), श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान (जन्म १९०४ ई०), पं० सोहनलाल द्विवेदी (जन्म १९०५ ई०) तथा श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' (जन्म १९०८ ई०) हिंदी के प्रमुख राष्ट्रीय कवि हैं।

हिंदी की सम-सामयिक कविता-धारा प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के कूलों से टकराती हुई भविष्य के उन महान कवियों की प्रतीक्षा में है, जो अपनी प्रतिभा के बल और वैभव से उसे व्यवस्थित और समृद्ध बनाएँगे।

कबीरदास

सन्त शिरोमणि महात्मा कबीरदास जी का जन्म १३९९ ई०. में उत्तरी भारत के शास्त्र-चर्चा के प्रमुख केन्द्र काशी में हुआ। उनके जन्म और माता-पिता के सम्बन्ध की किंवदन्तियों को विशेष महत्व न देकर इतना कहना पर्याप्त होगा कि नाथपंथी योगियों के भाव और संस्कार से युक्त नीरू नामक एक मुसलमान जुलाहे के परिवार में उनका लालन-पालन हुआ। आगे चल कर स्वामी रामानन्द को कबीर ने अपना गुरु माना तथा राम-नाम के अतिरिक्त वैष्णव धर्म और वेदान्त दर्शन की अनेक गूढ़ और अच्छी बातें उन्हीं से ग्रहण कीं। हठयोगियों की साधना और अहंभाव को समाप्त करने वाला सूफियों का प्रेम-सिद्धान्त—ये दोनों ही मार्ग कबीरदास को समान रूप से प्रिय हुए। उन्होंने हिन्दू और मुसलमान धर्म की उन सभी बातों की, जो उनके मत से पाखंडपूर्ण आडम्बर मात्र थीं, कठोर और निर्मम आलोचना की। वे धर्मों, जातियों और वर्गों में विभाजित मनुष्य के लिए प्रेम और एकता का आशापूर्ण संदेश लेकर अवतरित हुए। काशी में मरकर सस्ती मुक्ति प्राप्त करने के पक्ष में वे नहीं थे (उनका विश्वास था कि मुक्ति-प्राप्ति केवल सत्कर्मों पर निर्भर है।) कदाचित् इसी कारण उन्होंने स्वेच्छा से मगहर में जाकर १५१८ ई० में शरीर त्याग किया।

कबीर की रचनायें तीन शैलियों में विभक्त हैं—रमैनी, शब्द और साखी। रमैनियों और शब्दों में उन्होंने पूरबी-मिश्रित ब्रजभाषा का व्यवहार किया है, किंतु साखियों की भाषा राजस्थानी, पंजाबी

और खड़ी वोली का एक मिला-जुला रूप है। कवीर स्वयं अक्षर-ज्ञान से शून्य थे, अतएव उनकी रचनाएँ उनके शिष्यों द्वारा लिपि-वद्ध की गई थीं।

कवीर के काव्य का महत्व उनके हृदय की स्वच्छता, उनकी घर-फूंक मस्ती तथा उनकी निडर स्पष्टवादिता में ही निहित है। उन्होंने अपनी उक्तियों को भाषा के माधुर्य और अलंकार की चमक से कभी आकर्षक वनाने का प्रयास नहीं किया। फिर भी उन्होंने भावों को जिस बेधड़क और आत्म-विश्वास-युक्त शैली में अभिव्यक्त किया है वह हृदय को प्रभावित किये बिना नहीं रहती। गुरु की महिमा, प्रेम की अनन्यता, परोपकार, हृदय की पवित्रता, अहिंसा, अवतारवाद एवं मूर्ति-पूजा का खंडन, रोजा-नमाज की असारता, परमात्मा से मिलन के लिए साधना तथा आत्मा-परमात्मा का प्रेमपूर्ण मिलन उनके काव्य के मुख्य विषय हैं। दैनिक जीवन में सद्व्यवहार और सच्चरित्रता पर उन्होंने विशेष वल दिया है।

कवीरदास जी निःसंदेह महापुरुष थे। उनका हृदय विशाल था, उनकी प्रतिभा अनोखी थी और उनका व्यक्तित्व महान् था।

साखी

सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपकार ।
लोचन अनंत उघारिया, अनंत दिखावनहार ॥१॥
गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय ।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविंद दियो बताय ॥२॥
गुरू मिला तब जानिये, मिटै मोह तन ताप ।
हर्ष सोक व्यापै नहीं, तब गुरु आपै आप ॥३॥
सतगुरु साँचा सूरमा, नख सिख मारा पूर ।
बाहर घाव न दीसई, भीतर चकनाचूर ॥४॥
जा का गुरु है आंधरा, चेला निपट निरंध ।
अंधे आँधर ठेलिया, दोऊ कूप परंत ॥५॥
सुपनहु में बरड़ाइ के, धोखेहु निकरै नाम ।
वा के पग की पैंतरी, मेरे तन को चाम ॥६॥
माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माँहि ।
मनुवाँ तो दहुँ दिसि फिरै, यह तौ सुमिरन नाँहि ॥७॥
हाड़ जरै ज्यों लाकड़ी, केस जरै ज्यों घास ।
सब जग जरता देख करि, भये कबीर उदास ॥८॥
कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोय ।
आप ठगें सुख ऊपजै, और ठगे दुख होय ॥९॥
माली आवत देखि कै, कलियाँ करैं पुकारि ।
फूलो फूली चुनि लिये, काल्हि हमारी बारि ॥१०॥
भक्ति भाव भादों नदी, सबै चलीं घहराय ।
सरिता सोइ सराहिये, जो जेठ मास ठहराय ॥११॥

ज्यों तिरिया पीहर वसै, सुरति रहै पिय माहिं।
ऐसे जन जग में रहैं, हरि को भूलैं नाहि ॥१२॥
विरह तेज मन में तपै, अंग सबै अकुलाय।
घट सूना जिव पीव मैं, मौत ढूँढ़ि फिर जाय ॥१३॥
येहि तन का दिवला करौं, वाती मेलौं जीव।
लोहू सींचौं तेल ज्यों, कव मुख देखौं पीव ॥१४॥
यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तव पैठे घर माहिं ॥१५॥
सीस उतारैं भुइँ धरै, ता पर राखै पाँव।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव ॥१६॥
जब मैं था तव गुरु नहीं, अव गुरु हैं हम नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, ता में दो न समाहिं ॥१७॥
पीया चाहै प्रेम रस, राखा चाहै मान।
एक म्यान में दो खडग, देखा सुना न कान ॥१८॥
समुँद पाटि लंका गयो, सीता को भरतार।
ताहि अगस्त अचै गयो, इनमें को करतार ॥१९॥
सिंहों के लेहँड़े नहीं, हंसों की नहिं पाँत।
लालों की नहिं बोरियाँ, साधु न चलै जमात ॥२०॥
यार बुलावै भाव से, मो पै गया न जाय।
धन मैली पिउ ऊजला, लागि न सक्कौं पांय ॥२१॥
बसंत रितु जाचक भया, हरषि दिया द्रुम पात।
ता तें नव पल्लव भया, दिया दूर नहिं जात ॥२२॥

जहाँ काम तहँ नाम नहिं, जहाँ नाम नहिं काम।
दोनों कबहूँ ना मिलैं, रवि रजनी इक ठाम ॥२३॥
आब गई आदर गया, नैनन गया सनेह।
ये तीनों जबहीं गये, जबहिं कहा कछु देह ॥२४॥
निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय ॥२५॥
पाहन पूजे हरि मिलैं, तो मैं पुजौं पहार।
ता तें ये चाकी भली, पीसि खाय संसार ॥२६॥
मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जान।
दस द्वारे का देहरा, ता में जोति पिछान ॥२७॥
पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय ॥२८॥

शब्द

१–

दुलहनीं गावहु मंगलचार,
हम घरि आये हो राजा राम भरतार ॥ टेक ॥
तन रत करि मैं मन रत करिहूँ, पंचतत्त बराती।
रामदेव मोरै पाहुनै आये, मैं जोबन में माती ॥
सरीर सरोवर वेदी करिहूँ ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव सँगि भाँवरि लैहूँ, धँनि धँनि भाग हमार ॥
सुर तेतीसूँ कौतिग आये, मुनिवर सहस अठ्यासी।
कहैं कबीर हम व्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी ॥

—२—

पंडित वाद वदंते झूठा ।
राम कह्याँ दुनियाँ गत पावै, पाँड कह्याँ मुख मीठा ।।टेक।।
पावक कह्याँ पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई ।
भोजन कह्याँ भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई ।।
नर कै साथि सुआ हरि बोलै, हरि परताप न जानै ।
जो कबहूँ उड़ि जाइ जंगल मैं, बहुरि न सुरतैं आनै ।।
साँची प्रीति विषै माया सूँ, हरि भगतनि सूँ हाँसी ।
कहै कबीर प्रेम नहीं उपज्यौ, बाँध्यौ, जमपुरि जासी ।।

—३—

काहे री नलनीं तूँ कुँभिलानी,
तेरैं ही नालि सरोवर पानी ।।टेक।।
जल मैं उतपति जल मैं बास, जल मैं नलनीं तोर निवास ।।
ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेतु कहु कासनि लागि ।।
कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहीं मूए हँमारे जान ।।

—४—

हरि जननी मैं बालक तेरा,
काहे न औगुण बकसहु मेरा ।।टेक।।
सुत अपराध करै दिन केते, जननीं कै चित रहैं न तेते ।।
कर गहि केस करै जो घाता, तऊ न हेत उतारै माता ।।
कहै कबीर एक बुधि विचारी, बालक दुखी दुखी महतारी ।।

—५—

साधो सहज समाधि भली ।
गुरु प्रताप जा दिन से जागी, दिन दिन अधिक चली ।।
जँह जँह डोलौं सो परिकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा ।
जब सोवौं तव करौं दण्डवत, पूजौं और न देवा ।।
कहौं तो नाम सुनौं सो सुमिरन, खावँ पियौं सो पूजा ।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा ।।
आँख न मूँदौं कान न रूधौं, तनिक कष्ट नहि धारौं ।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारौं ।।
सबद निरन्तर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी ।
ऊठत बैठत कवहुँ न छूटै, ऐसी तारी लागी ।।
कह कबीर यह उनमुनि रहनी, सो परगट करि गाई ।
दुख-सुख से कोई परे परम पद, तेहि पद रहा समाई ।।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. पठित अंश के आधार पर कबीरदास के सामाजिक एवं नैतिक विचारों का उल्लेख कीजिए।
२. 'सहज समाधि' से कबीर का क्या अभिप्राय है? समझाकर लिखिए।
३. कबीरदास के काव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

मलिक मुहम्मद जायसी

प्रसिद्ध सूफी सन्त मलिक मुहम्मद जायसी का जन्म १५०० ई० के निकट रायबरेली जिले के जायस नगर में हुआ। ऊँचे टीले पर बसा हुआ यह स्थान किसी समय सूफी सन्तों का बड़ा भारी केन्द्र रहा है। सैयद अशरफ जहाँगीर और शेख मुहीउद्दीन जायसी के गुरु थे। एक नेत्र तथा एक श्रवण से रहित जायसी का बाह्य रूप यद्यपि आकर्षक नहीं था, किन्तु अपनी असाधारण प्रतिभा, सहृदयता एवं साधुता के कारण वे बड़े-बड़े श्रीमानों के लिए भी श्रद्धा के पात्र थे। १५४० ई० में उन्होंने मसनवी शैली में लिखे गये अपने 'पद्मावत' नामक विशाल काव्य-ग्रन्थ को पूरा करके हिन्दी में सूफी काव्य-धारा को प्रौढ़ता प्रदान की। १५४२ ई० में एक शिकारी की गोली से दुर्घटनावश उनकी असामयिक मृत्यु हो गई।

अपनी उदार सारग्राहिणी प्रवृत्ति के कारण जायसी ने मुहम्मद साहब और उनके मार्ग पर पूरी आस्था रखते हुए भी हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य से सम्बन्धित अपनी विस्तृत जानकारी का अनेक स्थलों पर सहृदयतापूर्ण उल्लेख किया है। हठयोग का सिद्धान्त तो उनके 'पद्मावत' का एक अनिवार्य अंग बन गया है। 'पद्मावत' का कथानक भी लेखक ने एक लोकप्रसिद्ध कथा से ही ग्रहण किया है। उसका पूर्वार्द्ध तो सर्वथा कल्पित है, किन्तु उत्तरार्द्ध, जिनका सम्बंध अलाउद्दीन की चढ़ाई से है, बहुत कुछ ऐतिहासिक है।

सूफी सिद्धान्त के अनुसार परमात्मा अनन्त सौंदर्य, आनन्द, गुण और शक्ति का निधान है। सूफी ईश्वर की सुन्दरता को जग में देखते हुए ईश्वर के प्रेम में आनन्द-विभोर रहते हैं। उनका 'अनलहक' का सिद्धान्त

अद्वैतवाद के 'अहं ब्रह्मास्मि' के बहुत निकट है। परमात्मा को प्राप्त करने का एकमात्र साधन प्रेम है, परमात्मा के प्रति प्रेम-भाव का उदय होते ही साधक विरह की पीड़ा से व्याकुल हो जाता है, और परमात्मा को प्राप्त करने के उद्योग में मार्ग की कठिनाइयों से विचलित न होता हुआ तब तक लगा रहता है जब तक वह अपने लक्ष्य तक न पहुँच जाए।

जायसी ने अपने काव्य 'पद्मावत' में प्रेम-मार्ग की इसी साधना का संकेत किया है। राजा रतनसेन साधक हैं और अनन्त सौंदर्य की निधि पद्मावती साध्य अथवा ईश्वर। प्रेम की पीर की मर्मस्पर्शी व्यंजना और मिलन के अलौकिक आनन्द का हृदयहारी चित्रण—ये दोनों ही 'पद्मावत' में अपने उत्कृष्ट रूप में प्राप्त हैं। जायसी की प्रबन्ध-पटुता और वर्णन-कुशलता भी सराहनीय है। नखशिख, बारह-मासा और षड्ऋतु के वर्णन इस बात के प्रमाण हैं कि साहित्य-शास्त्र की परम्परा से भी जायसी भली-भाँति परिचित थे। श्रृंगार और अध्यात्म के अतिरिक्त उन्होंने युद्धों के प्रसंग में वीररस का भी चित्रण जिस सफलता के साथ किया है उससे उनके अनुभूति-क्षेत्र की व्यापकता प्रकट होती है। ठेठ अवधी भाषा का माधुर्य तथा भावाभिव्यंजन की असाधारण क्षमता जायसी के दो ऐसे काव्य-गुण हैं जिनके कारण हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में उनका स्थान सुरक्षित है।

मतैं बैठि बादल औ गोरा । सो मत कीज परै नहि भोरा ।।
पुरुष न करहिं नारिमति काँची । जस नौसाबा कीन्ह न बाँची ।।
परा हाथ इसकंदर बैरी । सो कित छोड़ि कै भई बँदेरी ।।
सुबुधि सौं ससा सिंघ कहँ मारा । कुबुधि सिंघ कूआँ परि हारा ।।
देवहिं छरा आइ अस आँटी । सज्जन कंचन, दुर्जन माटी ।।
कंचन जुरैं भए दस खण्डा । फूटि न मिलै, काँच कर भण्डा ।।
जस तुरकन्ह राजा छर साजा । तस हम साजि छोड़ावहिं राजा ।।
पुरुष तहाँ पै करै छर, जहँ बर किये न आँट ।
जहाँ फूल तहँ फल हैं, जहाँ काँट तहँ काँट ।१।।
सोरह सै चंडोल सँवारे । कुँवर सजोइल कै बैठारे ।।
पदमावति कर सजा विवानू । बैठ लोहार न जानै भानू ।।
साजि विवान सो आज सँवारा । चहुँ दिसि चँवर करहिं सब ढारा ।।
साजि सबै चंडोल चलाये । सुरँग ओहार, मोति बहु लाये ।।
भए सँग गोरा बादल बली । कहत चले पदमावति चली ।।
हीरा रतन पदारथ झूलहिं । देखि विवान देवता भूलहिं ।।
सोरह सै सँग चलीं सहेली । कँवल न रहा और को बेली ।।
राजहिं चलीं छोड़ावै तहँ रानी होई ओल ।
तीस सहस तुरि खिचीं सँग, सोरह सै चंडोल ।।२।।
राजा बँदि जेहि के सौंपना । गा गोरा तेहि पहँ अगमना ।।
टका लाख दस दीन्ह अँकोरा । विनती कीन्ह पायँ गहि गोरा ।।
विनवा बादसाह सौं जाई । अब रानी पदमावति आई ।।
विनती करै आइ हौं दिल्ली । चितउर कै मोहि स्यो है किल्ली ।।
विनती करै जहाँ है पूँजी । सब भँडार कै मोहि स्यों कूँजी ।।

एक घरी जो आज्ञा पावौं । राजहिं सौंपि मँदिर महँ आवौं ॥
तब रखवार गये सुलतानी । देखि अँकोर भए जस पानी ॥
लीन्ह अँकोर हाथ जेहि, जीउ दीन्ह तेहि हाथ ॥
जहाँ चलावै तहँ चलै, फेरे फिरै न माथ ॥ ३ ॥

लोभ-पाप कै नदी अँकोरा । सत्त न रहै हाथ जौ बोरा ॥
जहँ अँकोर तहँ नीक न राजू । ठाकुर केर विनासै काजू ॥
भा जिउ घिउ रखवारन्ह केरा । दरव-लोभ चंडोल न हेरा ॥
जाइ साह आगे सिर नावा । ए जगसूर ! चाँद चलि आवा ॥
जावत हैं सब नखत तराईं । सोरह सै चंडोल सो आईं ॥
चितउर जेति राजकै पूँजी । लेइ सो आइ पदमावति कूँजी ॥
विनती करै जोरि कर खरी । लेइ सौंपौं राजा एक घरी ॥

इहाँ उहाँ कर स्वामी, दुऔ जगत मोहि आस ॥
पहिले दरस दिखावहु, तौ पठवहु, कविलास ॥ ४ ॥

आज्ञा भई जाइ एक घरी । छूँछि जो घरी फेरि विधि भरी ॥
चलि विवान राजा पहँ आवा । सँग चंडोल जगत सब छावा ॥
पदमावति के भेस लोहारू । निकसि काटि, बँदि कीन्ह जोहारू ॥
उठा कोपि जस छूटा राजा । चढ़ा तुरंग सिंघ अस गाजा ॥
गोरा बादल खाँड़ै काढ़े । निकसि कुँवर चढ़ि-चढ़ि भए ठाढ़े ॥
तीख तुरंत गगन सिर लागा । केहूँ जुगुति करि टेकी बागा ॥
जो जिउ ऊपर खड़ग सँभारा । मरन हार सो सहसन्ह मारा ॥
भई पुकार साह सौं, ससि औ नखत सो नाहिं ॥
छर कै गहन गरासा, गहन गरासे जाहिं ॥ ५ ॥

लेइ राजा चितउर कहँ चले । छूटेहु सिंघ, मिरिग खलभले ॥
चढ़ा साहि, चढ़ि लागि गोहारी । कटक असूझ परी जगकारी ॥
फिर वादल गोरा सौं कहा । गहन छूटि पुनि चाहै गहा ॥
चहुँ दिस आवै लोपत भानू । अव इहै गोइ इहै मैदानू ॥
तुइ अव राजहि लेइ चलु गोरा । हौं अव उलटि जुरौं भा जोरा ॥
वह चौगान तुरुक कस खेला । होइ खेलार रन जुरौं अकेला ॥
तौं पावौं वादल अस नाऊँ । जो मैदान गोइ लेइ जाऊँ ॥

आज खड़ग चौगान गहि, करौं सीस-रिपुगोइ ॥
खेलौं सौंह साह सौं, हाल जगत महँ होइ ॥ ६ ॥

तव अगमन होइ गोरा मिला । तुइ राजहि लेइ चलु वादला ॥
पिता मरै जो सँकरे साथा । मीचु न देइ पूत के माथा ॥
मैं अव आउ भरी औ भूँजी । का पछिताव आउ जौ पूजी ?
वहुँतन्ह मारि मरौं जौ जूझी । तुम जिन रोएहु तौ मन बूझी ॥
कुँवर सहस सँग गोरा लीन्हें । और बीर वादल सँग कीन्हें ॥
गोरहि समदि मेघ अस गाजा । चला लिए आगे करि राजा ॥
गोरा उलटि खेत भा ठाढ़ा । पूरुष देखि चाव मन वाढ़ा ॥

आव कटक सुलतानी, गगन छपा मसि माँझ ॥
परति आव जग कारी, होति आव दिन साँझ ॥७॥

फिरि आगे गोरा तव हाँका । खेलौं, करौं आजु रन साका ॥
हौं कहिए धौलागिरि गोरा । टरौं न टारे, अंग न मोरा ॥
सोहिल जैस गगन उपराहीं । मेघ-घटा मोहि देखि बिलाहीं ॥
सहसौ सीस सेस सम लेखौं । सहसौ नैन इंद्र सम देखौं ॥
चारिउ भुजा चतुरभुज आजु । कंसू न रहा और को साजू ?
हौं होइ भीम आजु रन गाजा । पाछे घालि डुंगवै राजा ॥
होइ हनुवंत जमकातर ढाहौं । आजु स्वामि साँकरे निवाहौं ॥

होइ नल नील आज हौं देहूँ समुद मँह मेंड़ ।
कटक साह कर टेकौं होइं सुमेरु रन बेंड़ ॥८॥

ओनईं घटा चहू दिसि आईं । छूटहिं वान मेघ झरि लाईं ॥
डोलैं नाहिं देव जस आदी । पहुँचे आइ तुरुक सव वादी ॥
हाथन्ह गहे खड़ग हरद्वानी । चमकहिं सेल बीजु कै वानी ॥
सोझ वान जस आवहिं गाजा । वासुकि डरै सीस जन वाजा ॥
नेजा उठै डरै मन इन्दू । आइ न वांज जानि कै हिन्दू ॥
गोरै साथ लीन सव साथी । जस मैमंत सूँड़ विनु हाथी ॥
सव मिलि पहिलि उठौनी कीन्हीं । आवत आइ हाँक रन दीन्हीं ॥

रुंड मुंड अव टूटहिं, स्यो वखतर औ कूँड़ ॥
तुरय होहिं विनु काँधे, हस्ति होहिं विनु सूड़ ॥९॥

ओनवत आइ सेन सुलतानी । जानहुँ परलय होय तुलानी ॥
लोहे सेन सूझ सव कारी । तिल एक कहूँ न सूझ उघारी ॥
खड़ग फौलाद तुरुक सव काढ़े । धरे बीजु अस चमकहिं ठाढ़े ॥
पीलवान गज पेले बाँके । जानहुँ काल करहिं दुइ फाँके ॥
जनु जमकात करहिं सव भवाँ । जिउ लेइ चहहिं सरग अपसवाँ ॥
सेल सरप जनु चाहहिं डसा । लेहिं काढ़ि जिउ मुख विष-वसा ॥
तिन्ह सामुहँ गोरा रन कोपा । अंगद सरिस पाँव भुइँ रोपा ॥

सुपुरुष भागि न जानै, भुइ जौ फिरि फिरि लेइ ।
सूर गहैं दोऊ कर, स्वामि-काज जिउ देइ ॥१०॥

भइ वगमेल, सेल घन घोरा । औ गज-पेल अकेल सो गोरा ॥
सहस कुँवर सहसौ सत वाँधा । भार-पहार जूझ कर काँधा ॥
लगे मरै गोरा के आगे । वाग न मोर घाव मुख लागे ॥
जैस पतंग आगि धँसि लेई । एक मुवै, दूसर जिउ देई ॥

टूटहिं सीस, अधर धर मारै । लोटहिं कंधहिं कंध निरारै ॥

कोई परहिं रुहिर होइ राते । कोई घायल घूमहिं माते ॥
कोई खुरखेह गए भरि भोगी । भसम चढ़ाइ परे होइ जोगी ॥

घरी एक भारत भा, भा असवारन्ह मेल ।
जूझि कुँवर सब निबरे, गोरा रहा अकेल ॥११॥

गोरै देखि साथ सब जूझा । आपन काल नियर भा बूझा ॥
कोपि सिंघ सामुहँ रन मेला । लाखन्ह सो नहिं मरै अकेला ॥
लेइ हाँकि हस्तिन्ह कै ठट्टा । जैसे पवन बिदारै घटा ॥
जेहि सिर देइ कोपि करवारू । स्यो घोड़े टूटै असवारू ॥
लोटहिं सीस कबंध निनारै । माठ मजीठ जनहुँ रन ढारे ॥
खेलि फाग सेंदुर छिरकावा । चाँचरि खेलि आगु जनु लावा ॥
हस्ती घोड़ धाइ जो धूका । ताहि कीन्ह सो रुहिर भभूका ॥

भइ अज्ञा सुलतानी, "बेगि करहु एहि हाथ ।
रतन जात है आगे, लिए पदारथ साथ" ॥१२॥

सबै कटक मिलि गोरहि छेका । गूँजत सिंह जाहि नहिं टेका ॥
जेहि दिस उठै सोई जनु खावा । पलटि सिंघ तेहि ठावँ न आवा ॥
तुरुक बोलावहिं बोलैं वाहाँ । गोरै मीचु धरी जिउ माहाँ ॥
मुए पुनि जूझि जाज, जगदेऊ । जियत न रहा जगत महँ केऊ ॥
जिन जानहु गोरा सो अकेला । सिंघ क्रे मोंछ हाथ को मेला ?
सिंघ जियत नहिं आपु धरावा । मुए पाछ कोई घिसियावा ॥
करै सिंघ मुखै-सौहहिं दीठी । जौ लगि जियै देइ नहिं पीठी ॥

रतनसेन जो बाँधा, मसि गोरा के गात ।
जौ लगि रुहिर न धोवौं, तौ लगि होइ न रात ॥१३॥

सरजा बीर सिंह चढ़ि गाजा । आइ सौंह गोरा सों बाजा ॥
पहलवान सो बखाना बली । मदद मीर हमजा औ अली ॥
लँधउरु धरा देव जस आदी ।-और को बर बाँधै, को बादी ॥
मदद अयूब सीस चढ़ि कोपे । महाकाल जेइ नाँव अलोपे ॥
ओ ताया सालार सो आए । जेइ कौरव पंडव पिंड पाए ॥
पहुँचा आइ सिंह असवारू । जहाँ सिंघ गोरा बरियारू ॥
मारेसि साँग पेट महँ धँसी । काढ़ेसि हुमुकि आँति भुइँ खसी ॥

भाँट कहा, धनि गोरा ! तूँ भा रावन राव ।
आँति समेटि बाँध कै तुरय देत है पाव ॥१४॥

कहेसि अन्त अब भा भुइँ परना । अन्त त खसे खेह सिर धरना ॥
कहि कै गरजि सिंघ अस धावा । सरजा सारदूल पहँ आवा ॥
सरजै लीन्ह साँग पर घाऊ । परा खड़ग जनु परा निहाऊ ॥
बज्र कै साँग, बज्र कै डाँड़ा । उठी आगि तस बाजा खाँड़ा ॥
जानहु बज्र-बज्र सौं बाजा । सब ही कहा परी अब गाजा ॥
दूसर खड़ग कंध पर दीन्हा । सरजै ओहि ओड़न पर लीन्हा ॥
तीसर खड़ग कूँड़ पर लावा । काँध गुरुज हुत, घाव न आवा ॥

तस मारा हठि गोरै, उठी बज्र कै आगि ।
कोइ नियरै नहिं आवै, सिंघ सदूरहि लागि ॥१५॥

तब सरजा कोपा बरिबंडा । जनहु सदूर केर भुजदंडा ॥
कोपि गरजि मारेसि तस बाजा । जानहु परी टूटि सिर गाजा ॥
ठाँठर टूट, फूट सिर तासू । स्यो सुमेरु जनु टूटि अकासू ॥
धमकि उठा सब सरग पतारू । फिरि गइ दीठि, फिरा संसारू ॥
भइ परलय अस सबही जाना । काढ़ा खड़ग सरग नियराना ॥

तस मारेंसि स्यो घोड़ै काटा । धरती फाटि, सेन-फन फाटा ।।
जौ अति सिंह वरी होई आई । सारदूल सों कौनि वड़ाई ।।

गोरा परा खेत महँ, सुर पहुँचावा पान ।
वादल लेइगा राजा, लेइ चितउर नियरान ।।१६।।

('पद्मावत' से)

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. गोरा के युद्ध-कौशल और वीरता का वर्णन कीजिए ।
२. जायसी के काव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ।

विनय

—१—

चरन कमल वन्दौं हरि-राइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे कों सब कछु दरसाइ।
बहिरौ सुनै गूँग पुनि बोलै, रंक चल सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार वन्दौं तिहिं पाइ॥

—२—

अविगत-गति कछु कहत न आवै॥
ज्यों गूँगें मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै।
परम स्वाद सबहीं सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौ अगम अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालम्ब कित धावै।
सब विधि अगम विचारहिं तातैं सूर सगुन पद गावै॥

—३—

आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै तुमहीं कै हमहीं, माधौ, अपन भरोसै लरिहौं।
हौं तौ पतित सात पीढ़िन कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नच्यो चाहत हौं, तुम्हें बिरद बिन करिहौं।
कत अपनी परतीति नसावत, मैं पायो हरि हीरा।
सूर पतित तबहीं उठिहै, प्रभु जब हँसि देहौ बीरा॥

—४—

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल ।
काम क्रोध कौ पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल ।
महामोह के नूपुर बाजत, निंदा-सब्द-रसाल ।
भ्रम-भोयौ मन भयौ पखावज, चलत असंगत चाल ।
तृष्ना नाद करति घट भीतर, नाना विधि दै ताल ।
माया को कटि फेंटा बाँध्यौ, लोभ-तिलक दियौ भाल ।
कोटिक कला काछि दिखराई जल-थल सुधि नहिं काल ।
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करौ नँदलाल ॥

—५—

प्रभु मेरे मोसों पतित उधारौ ।
कामी, कृपिन, कुटिल, अपराधी, अघनि भर्यो बहु भारौ ।
तीनों पन मैं भक्ति न कीन्हीं, काजर हूँ तैं कारौ ।
अब आयौ हौं सरन तिहारी, ज्यों जानौ त्यौं तारौ ।
गीध-ब्याध-गज-गनिका उधरी, लै लै नाम तिहारौ ।
सूरदास प्रभु कृपावन्त ह्वै लै भक्तनि मैं डारौ ।

—६—

हमारे प्रभु औगुन चित न धरो ।
समदरसी है नाम तुम्हारौ, सोई पार करौ ।
इक लोहा पूजा मैं राखत, इक घर बधिक परौ ।
सो दुविधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरौ ।
इक नदिया इक नार कहावत, मैलो नीर भरौ ।
जब मिलि गए तब एक बरन ह्वै, गंगा नाम परौ ।
तन माया, ज्यौं ब्रह्म कहावत, सूर सु मिलि बिगरौ ।
कै इनको निरधार कीजियै, कै प्रन जात टरौ ।

बाललीला

—७—

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए।
चारु कपोल, लोल लोचन, गोरोचन-तिलक दिए।
लट-लटकनि मनु मत्त मधुप-गन, मादक मधुहिं पिए।
कठुला-कंठ वज्र, केहरि-नख राजत रुचिर हिए।
धन्य सूर एकौ पल इहिं सुख, का सत कल्प जिए।

—८—

सखि री, नंद नंदन देखु।
धूरि-धूसर जटा जुटली, हरि किए हर भेषु।
नील पाट पिरोइ मनि-गन, फनिग धोखैं जाइ।
खुनखुना कर हँसत हरि, हर नचत डमरु वजाइ।
जलज-माल गुपाल पहिरैं, कहा कहौं वनाइ।
मुंडमाला मनौ हर-गर ऐसी सोभा पाइ।
स्वाति-सुत माला विराजत स्याम तन इहिं भाइ।
मनौ गंगा गौरि-डर हर लईं कंठ लगाइ।
केहरी-नख निरखि हिरदै, रहीं नारि बिचारि।
बाल-ससि मनु भाल तै लै उर धर्‌यौ त्रिपुरारि।
देखि अंग अनंग झझक्यौ, नंद-सुत हर जान।
सूर के हिरदैं वसौ नितु, स्याम-सिव कौ ध्यान॥

—९—

कजरी कौ पय पियहु लाल, जासौं तेरी बेनि॰ वढ़ै।
जैसैं देखि और ब्रज बालक, त्यौं बल-बैस चढ़ै।

यह सुनि के हरि पीवन लागे, ज्यौं-त्यौं लयौ लढ़ै ।
अंचवत पय तातौ जब लाग्यो, रोवत जीभि डढ़ै ।
पुनि पीवत ही कच टकटोरत, झूँठहि जननि रढ़ै ।
सूर निरखि मुख हँसति जसोदा, सो सुख उर न कढ़ै ।।

—१०—

मैया, मैं तौ चंद-खिलौना लैहौं ।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं, तेरी गोद न ऐहौं ।
सुरभी कौ पय पान न करिहौं, बेनी सिर न गुहैहौं ।
ह्वै हौं पूत नंद बाबा को, तेरौ सुत न कहैहौं ।
आगैं आउ, बात सुनि मेरी बलदेवहिं न जनैहौं ।
हँसि समुझावति, कहति जसोमति, नई दुलहिया दैहौं ।
तेरी सौं, मेरी सुन मैया, अबहि वियाहन जैहौं ।
सूरदास ह्वै कुटिल बराती, गीत सुमंगल गैहौं ।।

—११—

मैया मोंहि दाऊ बहुत खिझायौ ।
मोसों कहत, मोल कौ लीन्हौ, तू जसुमति कब जायौ ।
कहा करौं इहि रिसि के मारे खेलन हौं नहि जात ।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तेरौ तात ।
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात ।
चुटकी दै-दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात ।
तू मोहीं कौ मारन सीखी, दाउहिं कबहु न खीझै ।
मोहन मुख रिस की ये बातें, जसुमति सुनि-सुनि रीझै ।
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत ही कौ धूत ।
सूर स्याम मोहि गोधन की सौं हौं माता तू पूत ।।

-१२-

मैया मैं नहिं माखन खायो ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचे धरि लटकायौ ।
हौं जु कहत नान्हे कर अपनै मैं कैसे करि पायौ ।
मुख दधि पोंछि, बुद्धि इक कीन्हीं, दोना पीठि दुरायौ ।
डारि साँटि मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ ।
बाल-विनोद-मोद मन मोह्यौ, भक्ति प्रताप दिखायौ ।
सूरदास जसुमति कौ यह सुख, शिव विरंचि नहि पायौ ।

-१३-

मैया हौं न चरैहौं गाइ ।
सिगरै ग्वाल घिरावत मोसौं, मेरे पायँ पिराइ ।
जौ न पत्याहि पूछि बलदाउहिं, अपनी सौंह दिवाइ ।
यह सुनि माइ जसोदा ग्वालिन, गारी देति रिसाइ ।
मैं पठवति अपने लरिका कौं, आवैं मन बहराइ ।
सूर स्याम मेरौ अति बालक, मारत ताहि रिंगाइ ।

संयोग

-१४-

मुरली तऊ गुपालहिं भावति ।
सुनि री सखी जदपि नँदलालहिं, नाना भाँति नचावति ।
राखति एक पाइँ ठाढ़ौ करि, अति अधिकार जनावति ।
कोमल तन आज्ञा करवावति, कटि टेढ़ी ह्वै आवति ।
अति आधीन सुजान कनौड़े, गिरिधर नार नवावति ।

आपुन पौढ़ि अधर सज्जा पर, कर-पल्लव फ्लुटावति ।
भृकुटी कुटिल, नैन नासा-पुट, हम पर कोप करावति ।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन, धर तें सीस डुलावति ।

—१५—

बूझत स्याम कौन तू गोरी ।
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज-खोरी ।
काहे कौं हम ब्रज-तन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी ।
सुनत रहति स्रवननि नँद ढोटा, करत फिरत माखन-दधि चोरी ।
तुम्हरौ कहा चोरि हम लेहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी ।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातिन भुरइ राधिका भोरी ॥

—१६—

जसुमति राधा कुँवरि सँवारति ।
बड़े बार सीमंत सीस के, प्रेम सहित निरुवारति ।
माँग पारि बेनी जु सँवारति, गूंथी सुन्दर भाँति ।
गोरैं भाल बिन्दु, बंदन, मनु इंदु प्रात-रवि कांति ।
सारी चीर नई फरिया लै, अपने हाथ बनाइ ।
अंचल सौं मुख पोंछि अंग सब, आपुहि लै पहिराइ ।
तिल चाँवरी, बतासे मेवा, दियौ कुँवरि की गोद ।
सूर स्याम राधा-तनु चितवत, जसुमति मन-मन मोद ॥

—१७—

सुन्दर स्याम पिया की जोरी ।
सखी गाँठि दै मुदित राधिका, रसिक हँसी मुख मोरी ।
वै मधुकर, ये कंज कली, वै चतुर एउ नहिं भोरी ।
प्रीति परस्पर करि दोऊ सुख, बात जतन की जोरी ।

वृन्दावन वै सिसु तमाल, ये कनक-लता सी गोरी ।
सूर किसोर नवल नागर ये, नागरि नवल किसोरी ॥

वियोग

मधुबन तुम क्यौं रहत हरे ।
विरह वियोग स्याम सुन्दर कें, ठाढ़े क्यौं न जरे ॥
मोहन बेनु बजावत तुम तर, साखा टेकि खरे ।
मोहे थावर अरु जड़ जंगम, मुनि जन ध्यान टरे ।
वह चितवनि तू मन न धरत है फिर फिर पुहुप धरे ॥
सूरदास प्रभु विरह दवानल, नख सिख लौं न जरे ।

निसि दिन बरषत नैन हमारे ।
सदा रहित बरषा रितु हम पर, जब तैं स्याम सिधारे ॥
दृग अंजन न रहत निसि बासर, कर कपोल भए कारे ।
कंचुकि पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे ॥
आँसू-सलिल, सबै भइ काया, पल न जात रिस टारे ।
सूरदास प्रभु यहै परेखौ, गोकुल काहें बिसारे ॥

–२०–

ऊधौ बेगिहीं ब्रज जाहु ।
सुति संदेस सुनाइ मेटौ, बल्लभिनि कौ दाहु ॥
काम पावक, तूल तन मैं, विरह स्वास समीर ।
जरि भसम नहिं होन पावैं, लोचननि के नीर ॥
आजु लौ इहि भाँति हैं वै, कछुक सजग सरीर ।

इते पर विनु समाधानहिं, क्यों धरैं तिय धीर ।।
वार-बार कहा कहौं, तुम सखा साधु प्रवीन ।
सूर सुमति विचारिए, जिहिं जिऐं जल विनु मीन ।।

–२१–

ऊधौ इतनी कहियौ जाइ ।
हम आवैंगे दोऊ भैया, मैया जनि अकुलाइ ।
याकौं विलग बहुत हम मान्यौ, जो कहि पठयौ धाइ ।
वह गुन हमकौं कहा विसरिहै, बड़े किए पय प्याइ ।
अरु जब मिल्यौ नंद वावा सौं, तब कहियो समुझाइ ।
तौलौं दुखी होन नहिं पावैं, धौरी धूमरि गाइ ।
जद्यपि इहाँ अनेक भाँति सुख, तदपि रह्यो नहिं जाइ ।
सूरदास देखौं व्रजवासिनि, तवहीं हियौं सिराइ ।

–२२–

सुनौ गोपी हरि कौ संदेस ।
करि समाधि अंतर-गति ध्यावहु यह उनकौ उपदेस ।।
वै अविगत अविनासी पूरन, सब घट रहे समाइ ।
तत्वज्ञान विनु मुक्ति नहीं है, बेद पुराननि गाइ ।।
सगुन रूप तजि निरगुन ध्यावहु, इक चित इक मन लाइ ।
वह उपाइ करि विरह तरौ तुम, मिलै व्रह्म तब आइ ।।
दुसह सँदेस सुनत माधौ कौ, गोपी जन बिलखानी ।
सूर विरह की कौन चलावै, बूड़ति मनु विनु पानी ।।

–२३–

मधुकर हम अजान मति भोरी ।
यह मत जाइ तहाँ उपदेसौ, नागरि नवल किसोरी ।।

कचन की मृग कौनैं देख्यौ, किन बाँध्यौ गहि डोरी ।
कहि धौं मधुप वारि तैं माखन, कौनै भरी कमोरी ॥
विनुहीं भीत चित्र किन कीन्हौ, किन नभ घाल्यौ झोरी ।
कहौ कौन पै कढ़त कनूका, जिन हठि भुसी पछोरी ॥
निरगुन ज्ञान तुम्हारौ ऊधौ, हम अबला मति थोरी ।
चाहति सूर स्याम मुख चंदहि, अँखियाँ तृषित चकोरी ॥

—२४—

निरगुन कौन देस कौ वासी ।
मधुकर कहि समुझाइ सौंह दै, बूझति साँच, न हाँसी ।
को है जनक, कौन है जननी, कौन नारि, को दासी ?
कैसे वरन, भेष है कैसौ, केहि रस मैं अभिलाषी ?
पावैगौ पुनि कियौ आपनौ, जो रे कहैगौ गाँसी ।
सुनत मौन ह्वै रह्यौ बावरौ, सूर सबै मति नासी ॥

—२५—

मुक्ति आनि मंदे मैं मेली ।
समुझि सगुन लै चले न ऊधौ, यह तुम पै सब पुँजी अकेली ।
कै लै जाहु अनंत ही बैचौ, कै लै राखु जहाँ बिष बेली ।
याहि लागि को मरै हमारैं, वृंदावन चरननि सौं ठेली ।
धरे सीस घर घर डोलत हौ, एकै मति सब भईं सहेली ।
सूरदास गिरिधर न छबीलौ, जिनकी भुजा कंठ धरि खेली ।

—२६—

इहि उर माखन चोर गड़े ।
अब कैसैं निकसत सुनि ऊधौ, तिरछे ह्वै जु अड़े ।
जदपि अहीर जसोदा-नन्दन कैसैं जात छंडे ।

ह्वाँ जादौपति प्रभु कहियत हैं, हमैं न लगत वड़े ।।
को बसुदेव-देवकी-नन्दन, को जानै को बूझै ।
सूर नंदनंदन के देखत, और न कोऊ सूझै ।।

—२७—

ऊधौ तुम हौ अति वड़भागी ।
अपरस रहत सनेह तगा तैं, नाहिंन मन अनुरागी ।।
पुरइनि पात रहत जल भीतर, ता रस देह न दागी ।
ज्यौं जलमाँह तेल की गागरि, बूँद न ताकौ लागी ।।
प्रीति नदी मैं पाँउं न बोर्‌यौ, दृष्टि न रूप परागी ।
सूरदास अवला हम भोरी, गुर चींटी ज्यौं पागी ।।

—२८—

कहत कत परदेसी की वात ।
मंदिर अरध अवधि वदि हमसौं, हरि अहार चलि जात ।।
ससि रिपु वरष, सूर रिपु जुग बर, हर-रिपु कीन्हौं घात ।
मघ पंचक लै गयौ साँवरौ, तातैं अति अकुलात ।।
नखत, वेद, ग्रह, जोरि अर्ध करि, सोइ वनत अव खात ।
सूरदास वस भईं विरह के, कर मीजैं पछितात ।।

—२९—

हमारैं हरि हारिल की लकरी ।
मन क्रम वचन नंद-नंदन उर, यह दृढ़ करि पकरी ।।
जागत सोवत स्वप्न दिवस-निसि, कान्ह कान्ह जकरी ।
सुनत जोग लागत है ऐसो, ज्यौं करुई ककरी ।।
सु तौ ब्याधि हमकौं लै अए, देखी सुनी न करी ।
यह तौ सूर तिनहिं लै सौंपौ, जिनके मन चकरी ।।

—३०—

विनु गुपाल वैरिनि भईं कुंजैं ।
तव वै लता लगति तन सीतल, अव भईं विषम ज्वाल की पुंजैं ॥
बृथा वहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल-फूलनि अलि गुंजैं ।
पवन,पान,घनसार,सजीव न, दधि-सुत किरनि भानु भईं भुंजैं ॥
यह ऊधौ कहियौ माधौ सौं, मदन मारि कीन्हीं हम लुंजैं ।
सूरदास-प्रभु तुम्हरे दरस कौं, मग जोवत अँखियाँ भईं छुंजैं ।

—३१—

रुकमिनि मोहिं व्रज विसरत नाहीं ।
वह क्रीड़ा वह केलि जमुन तट, सघन कदम की छाहीं ।
गोप वधुनि की भुँजा कंध धरि, बिहरत कुंजनि माही ।
और विनोद कहाँ लगि वरनौं, वरनत बरनि न जाहीं ॥
जद्यपि सुख निधान द्वारावति, गोकुल के सम नाहीं ।
सूरदास घनस्याम मनोहर, सुमिरि-सुमिरि पछिताहीं ॥

कुरुक्षेत्र में मिलन

—३२—

बूझति हैं रुकमिनि पिय इनमैं को बृषभानुकिसोरी ।
नेंकु हमैं दिखरावहु अपनी बाला-पन की जोरी ॥
परम चतुर जिन कीन्हें मोहन, अल्प बैस ही थोरी ।
बारे तैं जिहि यहै पढ़ायौ, बुधि बल कल विधि चोरी ।
जाके गुन गनि ग्रंथित-माला, कबहुँ न उर तैं छोरी ।
मनसा सुमिरन, रूप ध्यान उर, दृष्टि न इत-उत मोरी ॥
वह लखि, जुवति-वृंद मैं ठाढ़ी, नील बसन तनि गोरी ।
सूरदास मेरो मन वाकी चितवनि बैंक हरयौ री ॥

-३३-

रुकमिनि राधा ऐसैं भेंटी ।
जैसें वहुत दिननि की विछुरी, एक वाप की बेटी ॥
एक सुभाव एक वय दोऊ, दोऊ हरि कौं प्यारी ।
एक प्रान मन एक दुहुनि को, तन कर दीसति न्यारी ॥
निज मंदिर लै गईं रुकमिनी पहुनाई विधि ठानी ।
सूरदास प्रभु तहँ पग धारे, जहँ दोऊ ठकुरानी ॥

-३४-

राधा माधव भेंट भई ।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग गति ह्वै जु गई ॥
माधव राधा के रँग राँचे, राधा माधव रंग रई ।
माधव राधा प्रीति निरन्तर, रसना करि सो कहि न गई ॥
विहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर, यह कहिकै उन व्रज पठई ।
सूरदास प्रभु राधा माधव, व्रज-विहार नित नई-नई ।

('सूरसागर से')

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. सूरदास के वाल-वर्णन पर एक निबंध लिखिए ।

२. 'भ्रमर-गीत' के तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए सूरदास के वियोग-वर्णन की विशेषताएँ बतलाइये ।

३. कवि के रूप में सूर और तुलसी की तुलनात्मक आलोचना कीजिए ।

तुलसीदास

हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्म १५३२ ई० में राजापुर में एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में हुआ। तुलसीदास जी बचपन से ही अपने माता-पिता के आश्रय से वंचित होकर अनाथ बालक के रूप में इधर-उधर भटकते फिरे। इस काल के अपमान और कष्ट से पूर्ण जीवन का करुण चित्र कवि ने 'कवितावली' और 'विनय-पत्रिका' में स्वयं खींचा है, किन्तु सौभाग्य से शीघ्र ही किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त अवतरित इस महापुरुष को मनुष्य वेश में मानों स्वयं भगवान् ही गुरु के रूप में प्राप्त हुए। फिर क्या था! रामकथा के सागर में डुबकियां लगाकर इस महाकवि ने एक से एक मूल्यवान रत्न प्रकट किये जिन्हें पाकर भारतीय जनता धन्य हो गयी। चित्रकूट, अयोध्या और काशी कवि के प्रमुख लीला-क्षेत्र थे। १६२३ ई० में काशी में ही उनकी इहलीला का संवरण हुआ।

तुलसीदास जी अपने युग के प्रतिनिधि कवि थे। अपने समय में प्रचलित समस्त काव्य-शैलियों तथा काव्य-भाषाओं को उन्होंने राम-मय किया। छप्पय, कवित्त, सवैया, साखी, (दोहा) बरवै, गीत और दोहा-चौपाई तथा अवधी और ब्रज—इन सभी छन्दों तथा भाषाओं में उनके ग्रन्थ मिलते हैं। रामचरित जीवन की बहुमुखी परिस्थितियों का समुद्र है। तुलसीदास जी ने अपने विभिन्न शैलियों के ग्रन्थों में उनके अनुरूप भावनाओं एवं परिस्थितियों का विशद चित्रांकन किया है। उदाहरणार्थ, 'गीतावली' में कोमल एवं करुण भावनाओं का; 'कवितावली' में परुष

भावनाओं का तथा 'बरवै रामायण' में श्रृंगारमयी कल:पूर्ण उक्तियों का विशेष उत्कर्ष दिखायी पड़ता है।

तुलसीदास जी काव्य-शास्त्र के भी पूर्ण पंडित थे। किन्तु अपने इस ज्ञान का उपयोग उन्होंने अवसर की आवश्यकता के अनुकूल ही किया है। उनका मुख्य लक्ष्य तो सामाजिक और पारिवारिक जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करना था। जीवन की भावुकतापूर्ण परिस्थितियों की उनको अद्भूत पहचान थी, और उनका मार्मिक एवं प्रभावशाली चित्रण करने के लिए अप्रतिम काव्य प्रतिभा उन्हें नियति से प्राप्त थी। उनकी अनुभूति में जितनी व्यापकता है उतनी गहराई भी। उन्होंने जिन श्रेष्ठ एवं आदर्श चरित्रों का निर्माण किया है वे सुदृढ़ प्रकाश-स्तंभ के रूप में युग-युग तक मानव-जाति के लिए मार्ग-दर्शक का कार्य करेंगे।

गोस्वामी जी वर्णाश्रम-धर्म की मर्यादा को मानने वाले थे, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में सबको बराबर समझते थे। ज्ञानमार्ग से उनका कोई विरोध नहीं था, किन्तु भक्ति-मार्ग को माया के आकर्षण से सुरक्षित समझने के कारण वे अधिक उत्तम मानते थे। राम और शिव को एक दूसरे का भक्त कहकर उन्होंने वैष्णव तथा शैव सम्प्रदायों के विरोध को दूर करने की चेष्टा की थी। भारतीय ज्ञान की परम्परा में जो कुछ भी श्रेष्ठ था उसे लोक के कल्याण के लिए इस महामानव ने काव्य की मनोरम मंजूषा में संचित करके रख दिया है।

विनय

—१—

गाइए गनपति जगवंदन । संकरसुवन भवानीनंदन ॥
सिद्धिसदन गजवदन विनायक । कृपा सिंधु सुंदर सब लायक ॥
मोदकप्रिय मुद-मंगल दाता । विद्यावारिधि बुद्धि-विधाता ॥
मांगत तुलसिदास कर जोरे । बसहिं रामसिय मानस मोरे ॥

—२—

बावरो रावरो नाह, भवानी ।
दानि बड़ो, दिन देत दए बिनु, बेद-बड़ाई भानी ॥
निज घर की घरबात विलोकहु, हौ तुम परम सयानी ॥
सिव की दई संपदा देखत श्री सारदा सिहानी ।
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी ॥
तिन रंकन को नाक सँवारत हौं आयो नकवानी ॥
दुख दीनता दुखी इनके दुख, जाचकता अकुलानी ॥
यह अधिकार सौंपिए औरहिं, भीख भली मैं जानी ॥
प्रेम-प्रसंसा-विनय-व्यंग-जुत, सुनि विधि की बर बानी ॥
तुलसी मुदित महेस, मनहिं मन, जगतमातु मुसुकानी ॥

—३—

जाके गति है श्री हनुमान की ।
ताकी पैज पूजि आई यह, रेखा कुलिस पषान की ॥
अघटित-घटन, सुघट-विघटन, ऐसी बिरुदावलि नहिं आन की ॥
सुमिरत संकट सोच बिमोचन, मूरति मोदनिधान की ॥
तुलसी कपि की कृपा-विलोकनि, खानि सकल कल्यान की ॥

—४—

कबहुँक अंब अवसर पाइ ।
मेरिओ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ ॥
दीन सब अंगहीन छीन, मलीन अघी अघाइ ॥
नाम लै भरै उदर एक, प्रभु-दासी-दास कहाइ ॥
बूझिहैं 'सो है कौन ?' कहिबी नाम दसा जनाइ ॥
सुनत राम कृपालु के मेरी, बिगरिऔ बनि जाइ ।
जानकी जगजननि जन की, किए बचन-सहाइ ॥
तरै तुलसीदास भव तव, नाथ-गुनगान गाइ ॥

—५—

काहे तें हरि मोह बिसारो ।
जानत निज महिमा, मेरे अघ, तदपि न नाथ सँभारो ॥
पतित पुनीत दीनहित असरन-सरन कहत श्रुति चारो ।
हौं नहिं अधम सभीत दीन ? किधौं बेदन मृषा पुकारो ॥
खग–गनिका–गज–ब्याध–पाँति जहँ तहँ हौ हूँ बैठारो ॥
अब केहि लाज कृपानिधान परसत पनवारो टारो ॥
जो कलिकाल प्रबल अति होतो तुव निदेस तें न्यारो ।
तौ हरि रोस भरोस दोस गुन तेहि भजते तजि गारो ॥
मसक बिरंचि, बिरंचि मसक सम करहु प्रभाव तुम्हारो ।
यह सामर्थ्य अछत मोहिं त्यागहु, नाथ तहाँ कछु चारो ॥
नाहिन नरक परत मो कहँ डर, जद्यपि हौं अति हारो ।
यह बड़ि त्रास दास तुलसी प्रभु, नामहुँ पाप न जारो ॥

1974

–६–

अब लौं नसानी अब न नसैहौं ।
रामकृपा भवनिसा सिरानी जागे फिर न डसैहौं ॥
पायो नाम चारु चिंतामनि, उर–कर, तें न खसैहौं ।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित्त कंचनहिं कसैहौं ॥
परवस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज वस ह्वै न हँसैहौं ।
मन–मधुकर पन करि तुलसी रघुपति–पद कमल वसैहौं ॥
('विनय-पत्रिका से')

बाललीला

–१–

नगनि कब चलिहौ चारौ भैया !
प्रेम-पुलकि उर लाइ सुवन सब, कहति सुमित्रा मैया ॥
सुन्दर तनु सिसु-वसन-विभूषण, नखसिख निरखि निकैया ।
दलि तृन, प्रान निछावरि करि करि लैहैं मातु बलैया ॥
किलकनि नर्टनि चलनि चितवनि भजि मिलनि मनोहरतैया ।
मनि-खंभनि प्रतिविम्ब-झलक, छवि छलकिहै भरि अँगनैया ॥
बाल विनोद, मोद मंजुल, विधु, लीला ललित जुन्हैया ॥
भूपति पुन्य-पयोधि उमँग, घर घर आनन्द बधैया ।
ह्वै हैं सकल सुकृत-सुख-भाजन-लोचन, लाहु लुटैया ।
अनायास पाइहैं जनमफल तोतरे वचन सुनैया ॥
भरत, राम, रिपुदवन, लषन के, चरित-सरित अन्हवैया ।
तुलसी तब के से अजहुँ जानिबे, रघुबंर–नगर बसैया ॥

–२–

आँगन खेलत आनँदकंद ।
रघुकुल कुमुद सुखद चारु चंद ॥
सानुज भरत लषन सँग सोहैं ।
सिसु – भूषन – भूषितमन मोहैं ॥
तन दुति मोरचंद जिमि झलकैं ।
मनहुँ उमँगि अँग अँग छवि छलकैं ॥
कटि किंकिन, पग पैंजनि बाजैं ।
पंकज पानि पहुँचियाँ राजैं ॥
कठुला कंठ बघनहा नीके ।
नयन सरोज मयन-सरसी के ॥
लटकन लसत ललाट लटूरीं ।
दमकति द्वै द्वै दँतुरियाँ रूरीं ॥
मुनि-मन हरत, मंजु मसि-बुंदा ।
ललित वदन, बलि, बालमुकुंदा ॥
कुलही चित्र – बिचित्र झँगूली ।
निरखत मातु मुदित मन फूलीं ॥
गहि मन-खंभ डिंभ डगि डोलत ।
कलबल बचन तोतरे बोलत ॥
किलकत झुकि झाँकत प्रतिबिंवनि ।
देत परम सुख पितु अरु अंबनि ॥
सुमिरत सुखमा हिय हुलसी है ।
गावत प्रेम पुलकि तुलसी है ॥

—३—

विहरत अवध-बीथिन राम ।
संग अनुज अनेक सिसु नव-नील-नीरद स्याम ।
तरुन अरुन-सरोज-पद बनी कनकमय पदत्रान ।
पीत पट कटि तून वर, कर ललित लघु धनु बान ॥
लोचननि को लहत फल छवि निरखि पुर-नर-नारि ।
वसत तुलसीदास उर अवधेस के सुत चारि ॥

धनुभंग

—४—

राम कामरिपु-चाप चढ़ायो ।
मुनिहिं पुलकि आनंद नगर, नभ निरखि निसान बजायो ।
जेहि पिनाक बिनु नाक किए नृप, सबहिं विषाद बढ़ायो ।
सोइ प्रभु कर परसतै टूट्यो जनु हुतो पुरारि पढ़ायो ॥
पहिराईं जयमाल जानकी जुबतिन्ह मंगल गायो ।
तुलसी सुमन बरषि हरषे सुर, सुजस तिहूँ पुर छायो ॥

—५—

लाज तोरि, साजि साज राजा राढ़ रोषे हैं ।
कहा भौ चढ़ाए चाप, ब्याह ह्वै है बड़े खाए ।
बोलैं खोलैं सेल असि चमकत चोखे हैं ॥
जानि पुरजन त्रसे, धीर दै लषन हँसे,
बल इनको पिनाक नीके नापे जोखे हैं ॥
कुलहिं लजावैं बाल, बालिसु बजावैं गाल,
कैंधौं क्रूर काल बस तमकि त्रिदोषे हैं ॥

कुँवर चढ़ाई भौहैं, अव को विलोकै सौहैं,
जहँ तहँ भे अचेत, खेत के से धोखे हैं।
देख नर-नारि कहैं, साग खाइ जाए माइ,
बाहु पीन पाँवरनि पीना खाइ पोखे हैं।।
प्रमुदित—मन लोक—कोकनद—कोकगन,
राम के प्रताप—रवि सोच—सर सोखे हैं।
तब के देखैया तोषे, तब के लोगनि भले,
अब के सुनैया साधु तुलसिहु तोषे हैं।।

—६—

जब तें लै मुनि संग सिधाए।
राम लषन के समाचार, सखि तब तें कछुअ न पाए।।
बिनु पानही गमन, फल भोजन, भूमि सयन तरुछाहीं।
सर-सरिता जलपान, सिसुन के संग सुसेवक नाहीं।।
कौसिक परम कृपालु, परमहित, समरथ, सुखद, सुचाली।
बालक सुठि सुकुमार सकोची, समुझि सोच मोहि, आली।।
बचन सप्रेम सुमित्रा के सुनि सब सनेह बस रानी।
तुलसी आइ भरत तेहि औसर कही सुमंगल बानी।।
('गीतावली' से)

सीता का स्वरूप-वर्णन

केस-मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत ।। १ ।।
सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग, सखि ! कोमल, कनक कठोर ।। २ ।।

सियमुख सरदकमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ ॥३॥
चंपक-हरवा अँग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुँभिलाइ ॥४॥
('बरवै रामायण' से)

भरद्वाज मुनि के आश्रममें भरत

भरत तीसरे पहर कहँ, कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
कहत रामसिय रामसिय, उमगि उमगि अनुराग ॥१॥
झलका झलकत पायन्ह कैसें। पंकज कोस ओस कन जैसें ॥
भरत पयादेहि आए आजू। भयउ दुखित सुनि सकल समाजू ॥
खबरि लीन्ह सब लोग नहाए। कीन्ह प्रनामु त्रिबेनिहि आए ॥
सबिधि सितासित नीर नहाने। दिए दान महिसुर सनमाने ॥
देखत स्यामल धवल हिलोरे। पुलकि सरीर भरत कर जोरे ॥
सकल कामप्रद तीरथराऊ। बेद बिदित जग प्रगट प्रभाऊ ॥
मागउँ भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करइ कुकरमू ॥
अस जिय जानि सुजान सुदानी। सफल करहिं जग जाचक बानी ॥
अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद, यह बरदानु न आन ॥२॥
जानहुँ रामु कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही ॥
सीता राम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें ॥
जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पबि पाहन डारउ ॥
चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़ें प्रेम सब भाँति भलाई ॥
कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें ॥
भरत बचन सुनि माझ त्रिबेनी। भइ मृदु बानि सुमंगल देनी ॥

तात भरत तुम्ह सब विधि साधू। राम चरन अनुराग अगाधू ॥
बादि गलानि करहु मन माहीं। तुम्ह सन रामहिं कोउ प्रिय नाहीं॥
तनु पुलकेउ हिय हरषु सुनि, बेनि बचन अनुकूल ॥
भरत धन्य कहि धन्य सुर, हरषित बरसहिं फूल ॥३॥
प्रमुदित तीरथराज निवासी। बैखानस बटु गृही उदासी ॥
कहहिं परस्पर मिलि दस पाँचा। भरत सनेहु सीलु सुचि साँचा ॥
सुनत राम गुन ग्राम सुहाए। भरद्वाज मुनिवर पहिं आए ॥
दंड प्रनामु करत मुनि देखें। मूरतिमंत भाग्य निज देखें ॥
धाइ उठाइ लाइ उर लीन्हें। दीन्ह असीस कृतारथ कीन्हें ॥
आसनु दीन्ह नाइ सिरु बैठे। चहत सकुच गृहँ जनु भजि पैठे ॥
मुनि पूँछब कछु यह बड़ सोचू। बोले रिषि लखि सीलु सँकोचू॥
सुनहु भरत हम सब सुधि पाई। बिधि करतब पर किछु न बसाई॥
तुम्ह गलानि जियँ जनि करहु, समुझि मातु करतूति।
तात कैकइहि दोसु नहिं, गई गिरा मति धूति ॥४॥
यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ। लोक बेद बुध संमत दोऊ॥
तात तुम्हार बिमल जसु गाई। पाइहि लोकहु बेद बड़ाई ॥
लोक बेद संमत सबु कहई। जेहि पितु देइ राजु सो लहई ॥
राउ सत्यव्रत तुम्हहिं बोलाई। देत राज सुखु धरमु बड़ाई ॥
राम गवनु बन अनरथ मूला। जो सुनि सकल बिस्व भइ सूला ॥
सो भावी बस रानि अयानी। करि कुचालि अंतहुँ पछितानी ॥
तहँउँ तुम्हार अलप अपराधू। कहै सो अधम अयान असाधू ॥
करतेहु राजु तुम्हहिं नहिं दोषू। रामहि होत सुनत संतोषू ॥
अब अति कीन्हेहु भरत भल, तुम्हहि उचित मत एहु ॥
सकल सुमंगल-मूल जग, रघुबर चरन सनेहु ॥५॥

सो तुम्हारँ धनु जीवनु प्राना । भूरि भाग को तुम्हहि समाना ।।
यह तुम्हार आचरजु न ताता । दसरथ सुअन राम प्रिय भ्राता ।।
सुनहु भरत रघुबर मन माहीं । प्रेम पात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं ।।
लखन राम सीतहिं अति प्रीती । निसि सब तुम्हहिं सराहत बीती ।।
जाना मरमु नहात प्रयागा । मगन होहिं तुम्हरें अनुरागा ।।
तुम्ह पर अस सनेह रघुबर कें । सुख जीवन जग जस जड़ नर कें ।।
यह न अधिक रघुबीर बड़ाई । प्रनत कुटुंब पाल रघुराइ ।।
तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू । धरे देह जनु राम सनेहू ।।

तुम्ह कहँ भरत कलंक यह, हम सब कहँ उपदेसु ।
राम भगति रस सिद्धि हित, भा यह समउ गनेस ।।६।।

नवबिधु विमल तात जसु तोरा । रघुवर किंकर कुमुद चकोरा ।।
उदित सदा अथइहि कबहूँना । घटिहि न जग नभ दिनदिन दूना ।।
कोकतिलोकप्रीतिअतिकरिही । प्रभुप्रताप रवि छबिहिं न हरिही ।।
निसि दिन सुखद सदा सब काहू । ग्रसिहि न कैकइ करतबु राहू ।।
पूरन राम सुप्रेम पियूषा । गुर अवमान दोष नहिं दूषा ।।
राम भगत अब अमिअँ अघाहूँ । कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहूँ ।।
भूप भगीरथ सुरसरि आनी । सुमिरत सकल सुमंगल खानी ।।
दसरथ गुन गन वरनि न जाही । अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीं ।।

जासु सनेह सकोच बस, राम प्रगट भए आइ ।
जे हर हिय नयननि कबहुँ, निरखे नहीं अघाइ ।।७।।

कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा । जहँ बस राम प्रेम मृगरूपा ।।
तात गलानि करहु जियँ जाएँ । डरहु दरिद्रहि पारसु पाएँ ।।
सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं । उदासीन तापस बन रहहीं ।।

सब साधन कर सुफल सुहावा । लखन राम सिय दरसनु पावा ।।
तेहि फलकर फलु दरस तुम्हारा । सहित पयाग सुभाग हमारा ।।
भरतधन्य तुम्ह जसुजगु जयऊ । कहि असप्रेममगन मुनि भयऊ ।।
सुनि मुनि वचन सभासद हरषे । साधु सराहि सुमन सुर बरषे ।।
धन्य धन्यधुनि गगन पयागा । सुनि सुनिभरतु मगन अनुरागा ।।

पुलक गात हिय रामु सिय, सजल सरोरुह नैंन ।
करि प्रनाम मुनि मंडलिहिं, बोले गदगद बैन ।।८।।

मुनि समाजु अरु तीरथ राजू । साँचिहुँ सपथ अघाइ अकाजू ।।
एहिं थल जौ किछु कहिअ वनाई । एहिसम अधिक न अघ अधमाई ।।
तुम्ह सर्वग्य कहउँ सतिभाऊ । उर अंतरजामी रघुराऊ ।।
मोहि न मातुकरतवकरसोचू । नहिं दुखुजियँ जगुजानिहि पोचू ।।
नाहिन डरु विगरिहि परलोकू । पितहु मरन कर मोहि न सोकू ।।
सुकृति सुजसभरि भुवन सुहाए । लछिमन राम सरिस सुत पाए ।।
राम विरहँ तजि तनु छनभंगू । भूप सोच कर कवन प्रसंगू ।।
रामलखन सियविनुपगपनहीं । करि मुनिवेष फिरहिंवनवनहीं ।।

अजिन वसन फल असन महि, सयन डासि कुस पात ।।
बसि तरु तर नित सहत हिम, आतप बरषा वात ।।९।।

एहि दुख दाहँ दहइ दिन छाती । भूख न बासर नींद न राती ।।
एहि कुरोग कर औषधु नाहीं । सोधेउँ सकल विस्व मन माहीं ।।
मातु कुमत वढ़ई अघमूला । तेहिं हमार हित कीन्ह वँसूला ।।
कलि कुकाठकर कीन्ह कुजंत्रू । गाड़ि अवधि पढ़ि कठिन कुमंत्रू ।।
मोहि लगि यह कुठाटु तेहिठाटा । घालेसि सब जगु बारहबाटा ।।
मिटइ कुजोग राम फिरि आएँ । बसइ अवध नहिं आन उपाएँ ।।

भरत वचन सुनि मुनि सुख पाई । सवहि कीन्ह वहु भाँति वड़ाई ॥
तात करहु जनि सोचु बिसेषी । सव दुखु मिटहि रामपग देखी ॥
करि प्रबोध मुनिवर कहेउ, अतिथि प्रेम प्रिय होहु ।
कंद मूल फल फूल हम, देहिं लेहु करि छोहु ॥१०॥
सुनि मुनिवचन भरत हियँ सोचू। भयउ कुअवसर कठिन सँकोचू ॥
जानि गरुइ गुर गिरा वहोरी । चरन बंदि बोले कर जोरी ।
सिरधरि आयमु करिअ तुम्हारा । परम धरम यहु नाथ हमारा ॥
भरत वचन मुनिवर मन भाए । सुचि सेवक सिष निकट वोलाए॥
चाहिए कीन्ह भरत पहुनाई । कंद मूल फल आनहु जाई ॥
भलेहि नाथ कहि तिन्ह सिरनाए। प्रमुदित निजनिज काज सिधाए॥
मुनिहि सोचपाहुन वड़ नेवता । तसि पूजा चाहिअ जस देवता ॥
सुनिरिधि सिधि अनिमादिकआई।आयसु होइ सो करहिं गोसाईं ॥
राम बिरह ब्याकुल भरतु, सानुज सहित समाज ।
पहुनाई करि हरहु श्रम, कहा मुदित मुनिराज ॥११॥
रिधिसिधिसिरधरिमुनिवरवानी।वड़ भागिनि आपुहिअनमानी।
कहहिं परसपर सिधि समुदाई । अतुलित अतिथि राम लघु भाई ॥
मुनि पद बंदि करिअ सोइ आजू । होइ सुखी सव राज समाजू ॥
अस कहि रचेउ रुचिर गृह नाना।जेहि बिलोकि बिलखाँहि विमाना॥
भोग विभूति भूरि भरि राखे। देखत जिन्हहि अमर अभिलाषे ॥
दासी दास साजु सव लीन्हें । जोगवत रहहिं मनहिं मन दीन्हें ॥
सव समाजु सजि सिधिपल माहीं । जे सुख सुरपुर सपनेहुँ नाहीं ॥
प्रथमहिं वास दिएसव केही । सुन्दर सुखद जथा रुचि जेही ।
वहुरि सपरिजन भरत कहुं, रिषि अस आयसु दीन्ह ।
बिधि विसमय दायकु बिभव, मुनिवर तपवल कीन्ह ॥१२॥

मुनि प्रभाव जब भरत बिलोका। सब लघु लगे लोकपति लोका ।।
सुख समाजु नहि जाइ बखानी । देखत बिरतिबिसारहिं ग्यानी ।।
आसनसयन सुबसन बिताना । बनबाटिका बिहग मृग नाना ।।
सुरभि फूलफल अमियसमाना । बिमल जलासय बिबिधबिधाना ।।
असनपान सुचि अमिय अमी से । देखि लोग सकुचात जमी से ।।
सुर सुरभी सुरतरुसबही कें। लखि अभिलाषु सुरेस सची कें ।।
रितु बसंत बह त्रिबिध बयारी । सब कहँ सुलभ पदारथ चारी ।।
स्त्रक चंदन बनितादिक भोगा । देखि हरष बिसमय बस लोगा ।।

संपति चकई भरतु चक, मुनि आयसु खेलवार ।।
तेहि निसि आश्रम पींजरा, राखे भा भिनुसार ।।१३।।

कीन्ह निमज्जनु तीरथ राजा । नाइ मुनिहि सिरु सहित समाजा ।।
रिषि आयसु असीस सिर राखी । करि दण्डवत बिनय बहु भाषी ।।
पथ गति कुसल साथ सब लीन्हें । चले चित्रकूटहिं चित दीन्हें ।।
रामसखा कर दीन्हें लागू । चलत देह धरि जनु अनुरागू ।।
नहिं पदत्रान सीसनहिं छाया । प्रेम नेमु ब्रत घरमु अमाया ।।
लखन राम सिय पंथ कहानी । पूँछत सखहिं कहत मृदुबानी ।।
राम बास थल बिटप बिलोके । उर अनुराग रहत नहि रोकें ।।
देखि दसा सुर बरसहिं फूला । भइ मृदु महि मगु मंगल मूला ।।

किए जाहिं छाया जलद, सुखद बहइ बर बात ।
तस मगु भयउ न राम कहँ, जस भा भरतहिं जात ।।१३।।

('रामचरितमानस' से)

लंकादहन

वसन बटोरि बोरि बोरि तेल तमीचर,
खोरि खोरि धाइ आइ बाँधत लंगूर हैं।
तैसो कपि कौतुकी डरात ढीलो गात कै कै,
लात के अघात सहै जी में कहै 'क्रूर हैं' ॥
वाल किलकारी कै कै, तारी दै दै गारी देत,
पाछे लागे बाजन निसान ढोल तूर हैं ॥
वालधी बढ़न लागी, ठौर ठौर दीन्हीं आगि,
बिंध की दवारि, कैंधों कोटि सत सूर हैं ॥१॥

वालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानौं,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैंधों व्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीर रस बीर तरवारि सी उघारी है।
तुलसी सुरेस-चाप कैधौं दामिनी-कलाप,
कैंधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है।
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं,
'कानन उजार्‌यौ अब नगर प्रजारी है' ॥२॥

जहाँ तहाँ बुबुक बिलोकि बुबुकारी देत,
'जरत निकेत' धाओ धाओ लागि आगि रे।
कहाँ तात, मात, भ्रात, भगिनी, भामिनी, भाभी,
छोटे-छोटे छोहरा अभागे भोरे भागि रे।

हाथी छोरो, घोरा छोरो, महिष वृषभ छोरो,
छेरी छोरो सोवै सो जगावो जागि जागि रे'।
तुलसी विलोकि अकुलानी जातुधानी कहै,
'वार-बार कह्यो पिय कपि सों न लागि रे' ॥३॥
'लागि लागि आगि' भागि भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं।
छूटे बार, बसन उघारे, धूम धुंध अंध,
कहैं बारे बूढ़े 'बारि बारि' बार बारहीं।
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज,
भारी भीर, ठेलि पेलि, रौंदि रौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात बिललात अकुलात अति,
'तात तात! तौंसियत झौंसियत, झारहीं ॥४॥
रावन सो राजरोग बाढ़त विराट उर,
दिन दिन विकल सकल सुखरांक सो।
नाना उपचार करि हारे सुर सिद्ध मुनि,
होत न विसोक, ओत पावे न मनाक सो।
राम की रजाय तें रसायनी समीरसूनु,
उतरि पयोधि पार सोधि सरवाक सो॥
जातुधान बुट, पुटपाक लंक जातरूप,
रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो॥५॥
('कवितावली' से)

सीता का विरह वर्णन

विरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ।
ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देहि बुझाइ ॥ १ ॥
अब जीवन कै है कपि आस न कोइ।
कनगुरिया के मुँदरी कंकन होइ ॥ २ ॥

राम नाम की महिमा

केहि गिनती महँ ? गिनती जस बनघास।
राम जपत भए तुलसी तुलसीदास ॥ ३ ॥
कामधेनु हरिनाम, काम तरु राम।
तुलसी सुलभ चारि फल सुमिरत नाम ॥ ४ ॥

('बरवै रामायण' से)

आत्मचरित

मातु पिता जन जाय तज्यो, विधिहून लिखी कछु भाल भलाईं।
नीच, निरादर-भाजन कादर, कूकर टूकन लागि ललाईं।
राम-सुभाउ सुन्यो तुलसी, प्रभु सों कह्यों बारक पेट खलाईं।
स्वारथको परमारथ को, रघुनाथसो साहब खोरि न लाईं ॥१॥

जायो कुल मंगन, बधावनो बजायो सुनि,
भयो परिताप पाप जननी जनक को ॥
बारें तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन,
जानत हो चारि फल चारि ही चनक को।
तुलसी सो साहिब समर्थ को सुसेवक है,
सुनत सिहात सोच बिधिहू गनक को।
नाम, राम ! रावरो सयानो किधौं, बावरो,
जो करत गिरी तें गुरु तृन तें तनक को ॥ २ ॥

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहूकी बेटी सों बेटा न ब्याहव काहूकी जाति बिगारौं न सोऊ।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को,जाको रुचै सो कहौ कछु ओऊ।
माँगिके खैबो मसीत को सोइबो, लैबो को एक न दैबो की दोऊ।

जीबे की न लालसा, दयालु महादेव ! मोहिं,
मालुम है तोहिं मरिबेइ को रहतु हौं ।
कामरिपु राम के गुलामनि को कामतरु,
अवलंब जगदंब सहित चहतु हौं ॥
रोग भयो भूत सो, कुसूत भयो तुलसी को,
भूतनाथ पाहि, पदपंकज गहतु हौं ।
ज्याइए तौ जानकी-रमन जन जानि जिय,
मारिए तौ माँगी मीचु सूधियै कहतु हौं ॥४॥

('कवितावली' से)

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ "भरत का भ्रातृ-प्रेम" विषय पर एक निवन्ध लिखिए।

२ तुलसी की रचनाओं से लोक का कल्याण किस प्रकार हुआ है? समझाकर लिखिये।

३. तुलसी के काव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

सेनापति

कवि-श्रेष्ठ सेनापति का जन्म १६०० ई० के आसपास अनूपशहर में हुआ। ये परशुराम दीक्षित के पौत्र, गंगाधर दीक्षित के पुत्र तथा हीरामणि दीक्षित के शिष्य थ। इनके प्रसिद्ध ग्रंथ 'कवित्त-रत्नाकर' की रचना १६४९ ई० में हुई। इनके मृत्यु-काल के सम्बन्ध में कोई संकेत प्राप्त नहीं है।

सेनापति रीतिकाल के आरम्भिक कवियों में से हैं। अतः उनके काव्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का होना स्वाभाविक ही है। यद्यपि उनका 'काव्य-कल्पद्रुम' नामक लक्षण-ग्रंथ अभी प्राप्त नहीं है, किंतु उनके साहित्यशास्त्र-सम्बन्धी गम्भीर ज्ञान का तथा काव्य में उसके भावुकतापूर्ण प्रयोग की पटुता का परिचय हमें 'कवित्त-रत्नाकर' से ही भली-भाँति प्राप्त हो जाता है। अलंकारों को ही वर्ण्य विषय मानकर इतनी सरस, प्रांजल और मर्मस्पर्शी रचना करने का श्रेय एकमात्र सेनापति को है। भाषा पर इनके जैसा अबाध अधिकार कम कवियों का है। सेनापति राम के अनन्य भक्त थे तथा उनकी तद्विषयक रचनाओं में उनके हृदय की कृत्रिमता-रहित स्वच्छता के पूर्ण दर्शन होते हैं।

सेनापति का ऋतु-वर्णन उन्हें रीतिकाल के अन्य कवियों के बीच में एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी बनाता है। उन्होंने उद्दीपन की

दृष्टि से तो प्रकृति का वर्णन किया ही है, किंतु उसके अतिरिक्त कृति को ही आलम्बन मानकर जो स्वतंत्र वर्णन किया है वह अपनी सरसता, चित्रोपमता, दृष्टि-सूक्ष्मता एवं विदग्धता के कारण हिन्दी साहित्य में अनूठा है।

ऋतु वर्णन

बरन बरन तरु फूले उपवन वन,
सोई चतुरंग संग दल लहियत है।

बंदी जिमि बोलत विरद बीर कोकिल हैं,
गुंजत मधुप गान गुन गहियत है।

आवै आस-पास पुहुपन की सुबास, सोई,
सौंधे के सुगंध माँझ सने रहियत है।

शोभा कौं समाज, सेनापति, सुख-साज, आज
आवत वसन्त रितुराज कहियत है ॥१॥

लाल लाल केसू फूलि रहे हैं विलास संग
स्याम रंग भेंटि मानौं मसि में मिलाए हैं।

तहाँ मधु काज आइ बैठे मधुकर-पुंज,
मलय पवन उपवन वन धाए हैं।

सेनापति माधव महीना में पलास तरु,
देखि देखि भाउ कविता के मन आए हैं।

आधे अन-सुलगि, सुलगि रहे आधे, मानौं,
बिरही दहन काम क्वैला परचाए हैं ॥२॥

वृष कौ तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल बिकराल बरसत है।

तचति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी छाँह
छाँह कौ पकरि पंथी-पंछी बिरमत है।
सेनापति नैंक दुपहरी के ढरत, होत
धमका विषम, ज्यों न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर को पकरि कौनो,
घरी एक बैठि कहूँ घामै वितवत है ॥३॥
सेनापति ऊँचे दिनकर के चलत लुवैं,
नद, नदी, कुवैं कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन, मुरझात उपवन वन,
लाग्यो है तवन डार्‌यौ भूतलो तचाइ कै॥
भीषम तपत रितु ग्रीषम, सकुचि तातैं
सीरक छिपी है तहखानन में जाइ कै।
मानों सीत काल सीत-लता के जमाइबे कौं
राखे हैं विरंचि बीज धरा में धराइ कै ॥४॥
देखैं छिति अंबर जलै है चारि ओर छोर,
तिन तरवर सब ही कौ रूप हर्‌यौ है।
महा झर लागै जोति भादव की होति चलै,
जलद पवन तन सेक मनों पर्‌यौ है॥
दारुन तरनि तरै नदी सुख पावैं सब,
सीरी घनछाँह चाहिबोई चित धर्‌यौ है।
देखौ चतुराई सेनापति कवितांई की जु,
ग्रीषम विषम बरषा की सम कर्‌यौ है॥

दामिनी दमक, सुरचाप की चमक, स्याम
घटा की झमक अति घोर घनघोर तैं ।
कोकिला, कलापी कल कूजत हैं जित-तित,
सीकर ते सीतल समीर की झकोर तैं ॥
सेनापति आवन कह्यौ है मनभावन, सु
लाग्यौ तरसावन बिरह-जुर जोर तैं ।
आयौ सखी सावन, मदन सरसावन,
लग्यौ है बरसावन सलिल चहूँ ओर तैं ॥६॥

सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारि हूँ दिसान घुमरत भरे तोइ कै ।
सोभा सरसाने, न बख़ाने जात काहू भांति,
आने हैं पहार मानौं काजर के ढोइ कै ॥
घन सौं गगन छ्यौ, तिमिर सघन भयौ,
देखि न परत मानौं रवि गयौ ख़ोइ कै ।
चारि मास भरि स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जान याही तैं रहत हरि सोई कै ॥७॥

खंड ख़ंड सब दिग-मंडल जलद सेत,
सेनापति मानौं सृंग फटिक पहार के ।
अंबर अडंबर सौं उमड़ि-घुमड़ि, छिन
छिछकैं छछारे छिति अधिक उछार के ॥

सलिल सहल मानौं सुधा के महल नभ,
तूल के पहल किधौं पवन अधार के।
पूरब कौं भाजत हैं, रजत से राजत हैं,
गग गग गाजत गगन घन क्वार के ॥८॥
कातिक की राति थोरी थोरी सियराति, सेना-
पति है सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन वन,
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन हैं ॥
उदित विमल चंद, चाँदिनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध ऊरध गगन हैं ॥
तिमिरहरन भयौ सेत है वरन सव,
मानहु जगत छीर-सागर मगन हैं ॥९॥
सिसिर तुषार के बुखार से उखारत है,
पूस बीते होत सून हाथ-पाइ ठिरि कै।
पौस की छुटाई की वड़ाई वरनी न जाइ,
सेनापति पाइ कछु सोचि कैं सुमिरि कै ॥
सीत तैं सहस-कर सहस चरन ह्वै कैं,
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौलौं कोक कोकी कौं मिलत तौ लौं होति रात,
कोक अध बीच ही तैं आवत है फिरि कै ॥१०॥

('कवित्त-रत्नाकर' से)

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. सेनापति के प्रकृति वर्णन की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

बिहारी

रीतिकाल के सर्वाधिक लोक-प्रिय कवि बिहारीलाल का जन्म ग्वालियर के निकट गोविन्दपुर नामक ग्राम में १६०३ ई० के लगभग हुआ। तरुणावस्था में कुछ काल तक इन्हें अपनी ससुराल मथुरा में रहना पड़ा। तत्पश्चात् ये अपने प्रसिद्ध दोहे 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु..................'की सहायता से जयपुर के महाराजा जयसिंह को मुग्ध करके उन्हीं के दरबार में रहने लगे। राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल टॉड के अनुसार, महाराजा जयसिंह एक वीर, निर्भय और साहसी शासक थे। बिहारी के जीवन की अन्तिम सीमा १६६३ ई० के आसपास है।

बिहारी में थोड़े से शब्दों में बड़े से बड़ा भाव व्यंजित करने की अपूर्व क्षमता थी। उनकी भाषा में सुव्यवस्था और एकरूपता है तथा अनावश्यक शब्दों के प्रयोग का नितान्त अभाव है।

सतसई' बिहारी की एकमात्र रचना है। इसमें शृंगार, नीति एवं भक्ति-भावना का चित्रण करने वाले लगभग सात सौ दोहे हैं। यद्यपि बिहारी ने किसी लक्षण-ग्रन्थ की रचना नहीं की, किन्तु काव्य-शास्त्र के सभी अंगों के श्रेष्ठ उदाहरण इन सात सौ दोहों में से ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं। रूप और शृंगार के वर्णन में कवि ने अनुभावों और भावों की आकर्षक योजना की है। किन्तु बिहारी का विरह-वर्णन यथार्थ की भूमि को बहुत नीचे छोड़ कर ऊहात्मक हो गया है। उनके अलंकार भावोत्कर्ष में सदैव सहायक होकर आते हैं।

विहारी के नीति सम्बंधी दोहे जीवन की ठोस अनुभूति पर आधारित होने के कारण वड़े मार्मिक और प्रभावशाली हो गये हैं। उनकी अन्योक्तियाँ तो बहुत ही हृदयस्पर्शी हैं। उनमें से कई का राजनीतिक एवं ऐतिहासिक महत्व भी है।

'सतसई' में अनेक ऐसे दोहे भी बिखरे पड़े हैं जिनमें उक्ति-वैचित्र्य, वाग्विदग्धता तथा अपने पापों के सम्वंध में स्वीकारोक्ति के सहारे अनन्य भक्ति सम्बंधी भावों की उत्कृष्ट व्यंजना की गई है। इन दोहों में विहारी का हृदय छलकता हुआ दिखाई देता है, और वे हमारे सामने एक सच्चे भक्त के रूप में आते हैं।

यद्यपि बिहारी प्रधानतः श्रृंगार रस के कवि थे, किन्तु व्यावहारिक जीवन में वे संतोष, सदाचरण एवं एकपत्नीव्रत के पक्षपाती थे। "पट पाँखै, भखु काँकरे--" वाली अन्योक्ति में उनके इस मत का स्पष्ट निदर्शन है।

भक्ति

मेरी भव वाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परे, स्याम हरित दुति होय ॥१॥
तजि तीरथ हरि-राधिका-तन-दुति करि अनुराग।
जिहि ब्रज-केलि-निकुँज-मग पग-पग होत प्रयाग ॥२॥
या अनुरागी चित्त की, गति समुझे नहिं कोय।
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याम रँग, त्यों-त्यों उज्जल होय ॥३॥
मनमोहन सों मोह करि, तू घनस्याम निहारि।
कुंजबिहारी सों विहरि, गिरधारी उर धारि ॥४॥
जप माला छापा तिलक, सरै न एकौ काम।
मन काँचे नाचै बृथा, साँचै राँचै राम ॥५॥
यह जग काँचो काँच सो, मैं समझ्यो निरधार।
प्रतिविम्बित लखिये जहाँ, एके रूप अपार ॥६॥
तौ लगि या मन सदन मैं, हरि आवैं किहि बाट।
विकट जटे जौ लौं निपट, खुलें न कपट कपाट ॥७॥
यह बिरिया नहिं और की, तू करिया वह सोधि।
पाहन नाव चढ़ाय जिन, कीने पार पयोधि ॥८॥
दूर भजत प्रभु पीठि दै, गुन बिस्तारन काल।
प्रगटत निर्गुन निकट ही, चग रंग गोपाल ॥९॥
नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यो मनो तारन-बिरद, बारक बारन तारि ॥१०॥
कौन भांति रहिहै बिरद, अब देखिबी मुरारि।
बींधे मो सों आइ कै, गीधे गीधहिं तारि ॥११॥

थोरेंई गुन रीझते, विसराई वह बानि ।
तुम हू कान्ह मनो भये, आज कालि के दानि ॥१२॥

कब को टेरत दीन ह्वै, होत न स्याम सहाय ।
तुम हू लागी जगत-गुरु, जगनायक जग-बाय ॥१३॥

ज्यों ह्वै हौं त्यौं होहुंगौ, हौं हरि अपनी चाल ।
हठ न करौ अति कठिन है, मो तारिबौ गुपाल ॥१४॥

करौ कुवत जग कुटिलता, तजौं न दीनदयाल ।
दुखी होहुगे सरल चित, वसत त्रिभंगी लाल ॥१५॥

मोहिं तुम्हें बाढ़ी बहस, को जीतें जदुराज ।
अपने अपने विरद की, दुहन निबाहन लाज ॥१६॥

हरि कीजत तुमसों यहै, विनती वार हजार ।
जेहि तेहि भाँति डरो रहौं, परो रहौं दरबार ॥१७॥

नीति

जद्यपि सुन्दर सुघट पुनि, सगुनौ दीपक देह ।
तऊ प्रकास करै तितौ, भरिये जितौ सनेह ॥१८॥

न ये बिससिये लखि नये, दुर्जन दुसह सुभाय ।
आँटे परि प्रानन हरैं, काँटे लौं लगि पाय ॥१९॥

बसै बुराई जासु तन, ताही को सनमान ।
भलो भलो कहि छोड़िये, खोटे ग्रह जप दान ॥२०॥

बड़े न हूजे गुनन विन, बिरद बड़ाई पाय ।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय ॥२१॥

गुनी गुनी सब कोउ कहैं, निगुनी गुनी न होत।
सुन्यो कहूँ तरु अर्क ते, अर्क समान उदोत ॥२२॥
संगति सुमति न पावहीं, परे कुमति के धन्ध।
राखौ मेलि कपूर में, हींग न होत सुगन्ध ॥२३॥
बढ़त बढ़त संपति सलिल, मन सरोज बढ़ि जाय।
घटत घटत सु न फिरि घटै, वरु समूल कुम्हिलाय ॥२४॥
जौ चाहौ चटक न घटै, मैलो होय न मित्त।
रज राजस न छुवाइये, नेह चीकने चित्त ॥२५॥
कनक कनक तैं सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है, या पाये बौराय ॥२६॥

अन्योक्ति

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सौं बँध्यो, आगे कौन हवाल ॥२७॥
इहि आसा अटक्यो रहै, अलि गुलाब के मूल।
ह्वैहैं वहुरि बसंत ऋतु, इन डारन वे फूल ॥२८॥
दुसह दुराज प्रजानि को, क्यों न बढ़ै अति दंद।
अधिक अँधेरो जग करैं, मिलि मावस रवि चंद ॥२९॥
अति अगाध अति ओथरे, नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय ॥३०॥
को कहि सकै बड़ेन सों, लखे बड़ी हू भूल।
दीने दई गुलाब कों, इन डारन ये फूल ॥३१॥
वे न यहाँ नागर बड़े, जिन आदर तो आब।
फूल्यो अनफूल्यो भयो, गँवईं गाँव गुलाब ॥३२॥

करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि ।
रे गंधी मति-अंध तू, अतर दिखावत ताहि ॥३३॥
को छूट्यो यहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात ।
ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों त्यों उरझत जात ॥३४॥
पट पाँखे भखु काँकरे, सदा परेई संग ।
सुखी परेवा जगत में, एकै तुही विहंग ॥३५॥
स्वारथ सुकृत न स्रम बृथा, देखु विहंग विचारि ।
बाज पराये पानि परि, तू पंछीहि न मारि ॥३६॥

शृंगार

चिरजीवो जोरी जुरै, क्यों न सनेहु गंभीर ।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥३७॥
दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति ।
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति ॥३८॥
तोपर वारौं उर वसी, सुनि राधिके सुजान ।
तू मोहन के उर वसी, ह्वै उरवसी-समान ॥३९॥
बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय ।
सौंह करै भौंहन हँसै, देन कहै नटि जाय ॥४०॥

रूप

मोरमुकुट की चंद्रिकनि, यों राजत नँदनंद ।
मनु ससिसेखर के अकस, किय सेखर सत चंद ॥४१॥
सोहत ओढ़े पीतपट, स्याम सलोने गात ।
मनो नीलमनि सैल पर, आपत परयो प्रभात ॥४२॥
अधर धरत हरि के परत, ओठ दीठि पट जोति ।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्रधनुष सी होति ॥४३॥

भाल लाल बेंदी ललन, आषत रहे विराजि ।
इंदुकला कुज में वसी, मनो राहु भय भाजि ॥४४॥
पत्रा ही तिथि पाइये, वा घर के चहुँ पास ।
नितप्रति पुन्योई रहत, आनन ओप उजास ॥४५॥
अजौं तर्‌यौना ही रह्यो, स्रुति सेवत इक अंग ।
नाक बास बेसर लह्यो, बसि मुकुतन के संग ॥४६॥
भूषन भार सँभारिहै, क्यों यह तन सुकुमार ।
सूधे पाय न परत धर, सोभा ही के भार ॥४७॥
लिखन बैठि जाकी सबिहिं, गहि गहि गरब गरूर ।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ॥४८॥

बिरह

सीरे जतननि सिसिर रितु, सहि बिरहिन-तन-ताप ।
बसिबे को ग्रीषम दिवनु, परो परोसिन पाप ॥४९॥
आड़े दै आले बसन, जाड़े हू की राति ।
साहस कै कै नेह-बस, सखी सबै ढिग जाति ॥५०॥
सुनति पथिक मुँह माह निसि, लुबैं चलति वहि गाम ।
बिन बूझे बिनही कहे, जियत विचारी बाम ॥५१॥
करी बिरह ऐसी तऊ, गैल न छाड़त नीचु ॥
दीने हूँ चसमा चखनि, चाहे लहै न मीचु ॥५२॥
हौं ही बौरी बिरह बस, कै बौरो सब गाँव ।
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहिं सीतकर नाँव ॥५३॥
बिरह बिकल बिनुही लिखी, पाती दई पठाय ।
आँक बिहीनीयो सुचित, सूनै बाँचत जाय ॥५४॥

प्रकृति

कहलाने एकत वसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोबन सो कियो, दीरघ दाघ निदाघ ॥५५॥
पावस-निसि अँधियार मैं, रह्यो भेद नहिं आन।
रात द्यौस जान्यौ परत, लखि चकई चकवान ॥५६॥
आवत जाति न जानिये, तेजहिं तजि सियरान।
घरहिं जँवाई लौं घट्यौ, खरो पूस दिनमान ॥५७॥
रनित भृंग घंटावली, झरत दान मधुनीर।
मंद मंद आवत चल्यौ, कुंजर कुंज समीर ॥५८॥
चुवत स्वेद मकरंद कन, तरु-तरु तर विरमाय।
आवत दच्छिन देस तें, थक्यो बटोही वाय ॥५९॥

('सतसई' से)

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से बिहारी की सेनापति से तुलना कीजिए।
२, बिहारी के काव्य की विशषेताओं पर प्रकाश डालिए।

दीनदयाल गिरि

बाबा दीनदयाल गिरि का जन्म १८०३ ई० की बसंत-पंचमी को काशी में हुआ। पाँच वर्ष की छोटी अवस्था में ही इन्हें पितृहीन होकर काशी के पंचकोशी-मार्ग में पड़ने वाले देहली-विनायक नामक स्थान के अधिकारी महंत कुशागिरि का आश्रय प्राप्त हुआ। ये हिन्दी और संस्कृत के विद्वान थे। मठधारी शैव संन्यासी होते हुए भी ये संकुचित साम्प्रदायिक कट्टरता की भावना से सर्वथा मुक्त थे। आर्थिक कठिनाइयों के बीच में भी इन्होंने अपनी उदारता और स्वाभिमान को कम नहीं होने दिया—न तो दुखियों की सहायता करना बन्द किया और न कभी किसी धनवान के आगे हाथ फैलाया। १८५८ ई० में इनका परलोकवास हुआ।

दीनदयाल गिरि सहृदय और भावुक कवि थे। शब्द-चमत्कार और भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। यद्यपि इनके कुछ अन्य ग्रन्थ भी प्राप्त हैं, किन्तु इनकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' है जो पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, 'हिन्दी साहित्य में एक अनमोल वस्तु है'। अनुभूति की गंभीरता, अभिव्यक्ति की कलात्मकता, भाषा का सौष्ठव किसी भी दृष्टि से देखें, नीतिकाव्य के लेखकों में दीनदयाल गिरि सर्वोपरि सिद्ध होते हैं। इनकी अध्यात्म-सम्बन्धी अन्योक्तियाँ रहस्यवादी काव्य का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।

अन्योक्ति

हितकारी ऋतुराज तुम साजत जग आराम।
सुमन सहित आशा भरो दलहिं करौ अभिराम ॥
दलहिं करौ अभिराम कामप्रद द्विज गुन गावैं।
लहि सुवास सुखधाम बात वर ताप नसावैं॥
बरनै दीनदयाल हिये माधव धुनि प्यारी।
स्रवन सुखद सुखबैन विमल विलसै हितकारी ॥१॥

ग्रीषम तुम ऋतुराज के पाले दीन सुसाखि।
तिनको दाहत हौ कहा दावानल मैं माखि ॥
दावानल में माखि जारि फिर राख उड़ाई।
उन दीनन की दसा देखि नहिं दाया आई ॥
बरनै दीनदयाल द्विजन तापत क्यों भीखम।
मित्रहु तुमरे संग चढ़ै वृष दारुन ग्रीषम ॥२॥

पावस ऋतु सुखदानि जग तुम सम कोऊ नाहिं।
चपलाजुत घनस्याम नित विहरत हैं तुव माहिं॥
विहरत है तुव माहिं नीलकंठहु सुखदाई।
अंबर देत सुहाय द्विजन को करत सहाई ॥
बरनै दीनदयाल सकल सुख तौ सुखमा-वस।
एकै हंस उदास रहै काहे हे पावस ॥३॥

पाई छवि द्विजराज कवि गुरुवर अंबर सोह।
दरे दरद। हे सरद हिय करे मोद संदोह ॥

करे मोद संदोह धरे गुन सज्जन केरे।
कुवलय खरे विकास भरे भासैं चहुं फेरे ॥
बरनै दीनदयाल जगत के तुम सुखदाई।
करिए कहा प्रसंस हंस विलसैं छबि पाई ॥४॥

आवतै ही हेमंत तो कांपन लगो जहान।
कोक कोकनद भे दुखी अहित भए जगप्रान ॥
अहित भए जगप्रान संग जबहीं तुव पाए।
दुखद भए द्विजराज मित्र निज तेज घटाए ॥
बरनै दीनदयाल दीन द्विज-पाँति कँपावत।
कामिन को भो मोद एक ही तो जग आवत ॥५॥

गाये सुजस समूह तो कविराजन अवदात।
फैली महिमा रावरी महिमंडल में ख्यात ॥
महिमंडल में ख्यात फाग रागन कौं गावैं।
सिसिर सुआप प्रसाद जगत सबही सुख पावैं ॥
बरनै दीनदयाल कुंद मिस तो जस छाये।
एक बिचारे पात तिने उतपात लगाये ॥६॥

भूतल तो महिमा बड़ी फैल रही संसार।
छमासील को कहि सकै सहत सकल के भार ॥
सहत सकल के भार धराधर धीर धरे हो।
पारावार-अपार धार सिर क्रीट करे हो ॥
बरनै दीनदयाल जगो जग है जस ऊँजल।
सब की छमत गुनाह माहिं तुम सबको भूतल ॥७॥

करियै सीतल हृदय वन सुमन गयो मुरझाय ।
सुनो विनय घनस्याम हे सोभा सघन सुहाय ।।
सोभा सघन सुहाय कृपा की धारा दीजै ।
नीलकंठ प्रिय पालि सरस जग में जस लीजै ।।
बरनै दीनदयाल तृषा द्विजगन की हरियै ।
चपला सहित लखाय मधुर सुर कानन करियै ।।८।।

आयो चातक बूंद लगि सब सर सरित बिसारि ।
चहियत जीवन दानि! तिहि निरदै पाहन मारि ?
निरदै पाहन मारि पंख बिन ताहि न कीजै ।
याहि रावरी आस, प्यास हरि जग जस लीजै ।।
बरनै दीनदयाल दुसह दुख आतप तायो ।
तृषावन्त हित-पूर दूर तें चातक आयो ।।९।।

गरजे बातन तें कहा धिक नीरधि ! गंभीर ।
विकल बिलोकैं कूप-पथ तृषाबंत तो तीर ।।
तृषाबंत तो तीर फिरैं तुहि लाज न आवै ।
भँवर लोल कल्लोल कोटि निज बिभौ दिखावै ।
बरनै दीनदयाल सिंधु तोकों को बरजै ।
तरल तरंगी ख्यात बृथा बातन तें गरजै ।।१०।।

बहुगुन तो में हैं नदी ! अति पुनीत तो नीर ।
राखति यह ऐगुन बड़ो बक मराल इक तीर ।।
बक मराल इक तीर नीच ऊँचौं न पिछानति ।
सेत सेत सब एक, नहीं ऐगुन गुन जानति ।।

वरनै दीनदयाल चाल यह भली न है सुन ।
जग मैं प्रगट, नसाहिं एक ऐगुन तें वहुगुन ॥११॥
चिन्तामनि अरु नीलमनि पदमराग सु-प्रवीन ।
सुन्यो न पारस ! तुम विना लोह कनक कोउ कीन ।।
लोह कनक कोउ कीन नहीं जग में जो मानिक ।
चमकैं ठौरहिं ठौर जगे हैं जैं जेहि खानिक ॥
वरनै दीनदयाल अहो पारस तुम हो धनि ।
कियो कुधातु महीस-मुकुट क्या है चिन्तामनि ॥१२॥
दिन द्वै पाय वसंत-मद फूल्यो कहा पलास ।
ग्रीखम भीखम सीस पै नहिं लाली की आस ॥
नहिं लाली की आस फूल सब तेरे झरिहैं ।
पीछे तोहिं न वली ! अली कोउ आदर करिहैं ॥
वरनै दीनदयाल रहो नय कोमल किन ह्वै ।
ये नख नाहर-रूप रहैंगे तेरे दिन द्वै ॥१३॥
सेमल ! बिना सुगंध तू करत मालती रीस ।
छलि रे भ्रम दै सुकन को, नहिं जैहै हरि सीस ॥
नहिं जैहै हरि सीस भूलि जिन लखि निज लाली ।
जैहै बेगि विलाय ल्याय मति मद को खाली ॥
वरनै दीनदयाल जगत में विन गुन जे खल ।
करैं बृथा अभिमान जथा तरु मैं तू सेमल ॥१४॥
दारों तुम या वाग में कहा हँसो मुख खोलि ।
दिना चार की औधि मैं लीजै नेक कलोलि ॥
लीजै नेक कलोलि दसन की जो यह लाली ।
जैहै कहूँ बिलाय, होयगी डाली खाली ॥

वरनै दीनदयाल लगे खग हैं दिसि चारों ।
भीतर काटत कीट कौन रँग रातो दारों ॥१५॥

एकै ऐगुन देखि के नींब न तजो सुजान ।
याकी कटुता नहिं गुनो करि बहुगुन पहिचान ॥
करि बहुगुन पहिचान प्रथम सब रोग विनासैं ।
जो कोउ सेवै थाहि ताहि पीछे सुख भासै ॥
वरनै दीनदयाल छाँह मुद देति अनेकै ।
यह सीतलता खानि तजो कटु देखि न एकै ॥१६॥

जग में गुनमय करि तुमैं बरनै सकल महान ।
कहा भयो जो नहिं कियो चपल एक अलि मान ॥
चपल एक अलि मान कियो नहिं कछू नसायो ।
हे कपास सहि खेद धन्य परछेद दुरायो ॥
बरनै दीनदयाल स्याम याको गनि ठग मैं ।
मधुप मंद किमि जान, तुमैं बुध जानैं जग मैं ॥१७॥

माली की सहि सासना सुनि गेंदे मति भूल ।
विन सिर दै पैहै नहीं वहै हजारे फूल ॥
वहै हजारे फूल जौन सुरसीस चढ़ैगो ।
दए आपनो आप अधिक तैं अधिक बढ़ैगो ॥
बरनै दीनदयाल किती तू पैहै लाली ।
तेरे ही हित हेत देत सिख तोकों माली ॥१८॥

नाहीं भूलि गुलाब ! तू सुनि मधुकर गुंजार ।
यह बहार दिन चार की बहुरि कटीली डार ॥
बहुरि कटीली डार होहिंगी ग्रीखम आए ।
लुवैं चलैगी अंग अंग सब जैहैं ताए ॥

बरनै दीनदयाल फूल जौलौं तौ पाहीं ।
रहे घेरि चहुँ फेरि, फेरि अलि ऐहैं नाहीं ॥१९॥

तौ लौं अलि ! तू विहरि लै जौलौं मित्र प्रकाश ।
पीछे बाँधो जायगो रजनी नीरज पास ॥
रजनी नीरज पास बँधे फिर स्वाँस न ऐहै ।
यह तो विधि को तात कला इत नाहिं चलैहै ॥
बरनै दीनदयाल सुमन सेयो कइ सौ लौं ।
बुड़्यो कोकनद नहीं, रही चतुराई तौ लौं ॥२०॥

चल चकई तिहि सर विषै जहँ नहिं रैन बिछोह ।
रहत एक रस दिवस ही सुहृद हंस-संदोह ॥
सुहृद हंस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाके ।
भोगत सुख अंबोह मोह दुख होय न ताके ॥
बरनै दीनदयाल भाग्य बिन जाय न सकई ।
पिय मिलाप नित रहै ताहि सर चल तू चकई ॥२१॥

('अन्योक्ति-कल्पद्रुम' से)

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. दीनदयाल गिरि की अन्योक्तियों की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए विहारी की अन्योक्तियों से उनकी तुलना कीजिए ।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

आधुनिक युग में, जब खड़ी बोली काव्य-भाषा के आसन पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी, ब्रजभाषा के सहज माधुर्य से साहित्य-रसिकों को एक बार पुनः मुग्ध और चमत्कृत करने वाले सुकवि-श्रेष्ठ श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का जन्म काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में १८६६ ई० में हुआ। 'रत्नाकर' जी के पिता बाबू पुरुषोत्तमदास जी साहित्यिक अभिरुचि से सम्पन्न विद्वान् तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के घनिष्ठ मित्र थे। हिन्दी की शोभा बढ़ाने का वरदान 'रत्नाकर' जी को अपनी बाल्यावस्था में ही भारतेन्दु जी से प्राप्त हो गया था। वे अयोध्या के महाराजा तथा उनकी मृत्यु के पश्चात् महारानी के बहुत काल तक निजी सचिव रहे थे। इस कारण उनका अधिकांश समय शासन-प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्यों में व्यतीत हुआ। किन्तु तो भी उन्होंने अपने काव्यानुराग को कम नहीं होने दिया, और ब्रजभाषा में अपने अतिरिक्त दूसरों को भी रचना करने के लिए प्रोत्साहित किया। प्रयाग का रसिक-मण्डल, जो ब्रजभाषा कवियों का एक सशक्त समाज था, उन्हीं की प्रेरणा से प्राणमय था। हरिद्वार में गंगा के पवित्र तट पर १९३२ ई० में उन्होंने शरीर त्याग किया।

'रत्नाकर' जी ने ब्रजभाषा के स्वाभाविक माधुर्य में अपनी सुन्दर शब्द-योजना और प्रवाहमयी शैली के द्वारा और भी अधिक निखार उत्पन्न कर दिया है। उनकी वीर-रस संबंधी रचनाओं में ओज भी प्रचुर परिमाण में विद्यमान है। उनका अलंकार-विधान, भाव-वस्तु

व्यंजना का उत्कर्षक है। हृदयस्थ भावों की चित्रोपम अभिव्यक्ति के लिए वे अनुभावों की लड़ी सजा देने में सिद्धहस्त हैं। उनका वाक्य-विन्यास ससज्ज एवं सुगठित है और छन्द अथवा तुक के अनुरोध से उन्होंने शब्दों के रूप तोड़-मरोड़ कर कभी भी विकृत नहीं किये हैं।

'भ्रमर गीत' की परम्परा में लिखा गया 'रत्नाकर' जी का 'उद्धवशतक' उनकी सर्वाधिक लोक-प्रिय रचना है। इसका एक-एक पद कृष्ण के प्रति गोपियों के अनन्य प्रेम-भाव से अनुप्राणित है। निर्गुण की निःसारता और सगुण के महत्व के प्रतिपादन में जिन तर्कों का उपयोग किया गया है वे अपनी वक्रोक्ति-पूर्ण विदग्धता के कारण हिन्दी में अनूठे हैं।

भीष्म-प्रतिज्ञा

भीषम भयानक पुकार्‌यौ रन-भूमि आनि,
छाई छिति छत्रिनि की गीति उठि जाइगी ।
कहै रतनाकर रुधिर सौं रुँधेगी धरा,
लोथनि पै लोथनि की भीति उठि जाइगी ।
जीति उठि जाइगी अजीत पंडु-पूतनि की,
भूप दुरजोधन की भीति उठि जाइगी ।
कैतौ प्रीति-रीति की सुनीति उठि जाइगी कै,
आज हरि-प्रन की प्रतीति उठि जाइगी ॥१॥

पारथ विचारौ पुरुषारथ करैगो कहा,
स्वारथ-समेत परमारथ नसैहौं मैं ।
कहै रतनाकर प्रचार्‌यौ रन भीषम यौं,
आज दुरजोधन-दुःख दरि दैहौं मैं ।
पंचनि के देखत प्रपंच करि दूरि सबै,
पंचनि कौ स्वत्व पंचतत्व मैं मिलैहौं मैं ।
हरि प्रन-हारी-जस धारि कै धरा ह्वै सांत,
सांतनु कौ सुभट सपूत कहवैहौं मैं ॥२॥

मुंड लागे कटन पटन काल-कुंड लागे,
रुंड लागे लोटन निमूल कदलीनि लौं ।
कहै रतनाकर वितुंड-रथबाजी-झुंड,
लुंड मुंड लोटैं परि उछरिति मीनि लौं
हेरत हिराए से परस्पर सचित चूर,
पारथ औ सारथी [illegible] रथीनि लौं ।

लच्छ-लच्छ भीषम भयानक के बान चले,
सबल सपच्छ फुफुकारत फनीनि लौं ॥३॥

भीषम के बाननि की मार इमि माँची गात,
एकहूँ न घात सव्यसाची करि पावै है ॥
कहै रतनाकर निहारि सो अधीर दसा,
त्रिभुवन-नाथ-नैन नीर भरि आवै है ॥
वहि वहि हाथ चक्र-ओर ठहि जात नीठि,
रहि रहि तापै बक्र दीठि पुनि धावै है ।
इत प्रन-पालन की कानि सकुचावै उत,
भक्त-भय-घालन की बानि उमगावै है ॥४॥

छूट्यौ अवसान मान सकल धनंजय कौ,
धाक रही धनु मैं न साक रही सर मैं ॥
कहै रतनाकर निहारि करुनाकर कै,
आई कुटिलाई कछु भौंहनि कगर मैं ॥
रोक झर रंचक अरोक बर बाननि की,
भीषम यौं भाष्यौ मुसुकाइ मंद स्वर मैं ।
चाहत बिजै कौं सारथी जौ कियौ सारथ,
तौ बक्र करौं भृकुटी न चक्र करौ कर मैं ॥५॥

बक्र भृकुटी कै चक्र ओर चष फेरत ही,
सक्र भए अक्र उर थामि थहरत हैं ।
कहै रतनाकर कलाकर अखंड मंडि,
चंडकर जानि प्रलय खंड ठहरत हैं ॥
कोल कच्छ कुंजर कहलि हलि काढ़ैं खीस,
फननि फनीस कैं फुलिंग फहरत हैं ।

मुद्रित तृतीय दृग रुद्र मुलकावैं मीड़ि,
उद्रित समुद्र अद्र भद्र भहरत हैं ॥६॥
जाकी सत्यता मैं जग-सत्ता कौ समस्त सत्त्व,
ताके ताकि प्रन को अतत्त्व अकुलाये हैं।
कहै रतनाकर दिवाकर दिवस ही मैं,
झँप्यौ कंपि झूमत नछत्र नभ छाए हैं॥
गंगानंद आनन पै आईं मुसकानि मंद,
जाहि जोहि बृन्दारक-बृन्द सकुचाए हैं।
पारथ की कानि ठानि भीषम महारथ की,
मानि जब विरथ रथांग धरि धाए हैं ॥७॥
ज्यौं भए बिरथ रथांग गहि हाथ नाथ,
निज प्रन-भंग की रही न चित चेत है।
कहै रतनाकर त्यौं संग ही सखाहूँ कूदि,
आनि अर्‍यौ सौहैं हाहा करत सहेत है।
कलित कृपा औ त्रपा द्विमग समाहे पग,
पलक उठ्यौई रह्यौ पलक-समेत है।
धरन न देत आगैं अरुझि धनंजय औ,
पाछै उभय भक्त-भाव, परन न देत है ॥८॥
('बीराष्टक' से)

गोपी-उद्धव-संवाद

भेजे मनभावन के ऊधव के आवन की,
सुधि ब्रज-गावन मैं पावन जबै लगीं।
कहै रतनाकर गुवालिनि की झौर-झौरि,
दौरि-डौरि नंद-पौरि आवन तबैं लगीं॥

उझकि-उझकि पद कंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं ॥१॥
दीन दसा देखि ब्रज-बालनि की ऊधव कौ,
गरि गौ गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से।
कहै रतनाकर न आए मुख बैन, नैन
नीर भरि ल्याए भए सकुचि सिहाने से ॥
सूखे से स्रमे से सकबके से सके से थके,
भूले से भ्रमे से भभरे भकुवाने से।
हौले से हले से हूल-हूले से हिए मैं हाय,
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से ॥२॥
उधौ कहौ सूधौ सो सनेस पहिलै तौ यह,
प्यारे परदेस तैं कबै धौं पग पारिहैं।
कहै रतनाकर तिहारी परि बातनि मैं
मीड़ि हम कब लौं करेजौ मन मारिहैं।
लाइ-लाइ पाती छाती कब लौं सिरैहैं हाय,
धरि-धरि ध्यान धीर कब लगि धारिहैं।
बैननि उचारिहैं उराहनौ कबै धौं सबै,
स्याम कौ सलोनौ रूप नैननि निहारिहैं ॥३॥
आए हौ सिखावन कौ जोग मथुरा तैं तौपै,
ऊधौ ये वियोग के बचन बतरावौ ना।
कहैं रतनाकर दया करि दरस दीन्यौ,
दुख दरिबै कौं, तौपै अधिक बढ़ावौ ना ॥

टूक-टूक ह्वै है मन-मुकुर हमारौ हाय,
चूकि हू कठोर बैन पाहन चलावौ ना।
एक मनमोहन तौ वसिकै उजार्‌यौ मोहिं,
हिय मैं अनेक मनमोहन वसावौ ना ॥४॥
रंग-रूप रहित लखात सबही हैं हमैं,
वैसो एक और ध्याइ धीर धरिहैं कहा।
कहैं रतनाकर जरी हैं बिरहानल मैं,
और अब जोति कौ जगाइ जरिहैं कहा ॥
राखौ धरि ऊधौ उतै अलख अरूप ब्रह्म,
तासौं काज कठिन हमारे सरिहैं कहा।
एक ही अनंग साधि साध सब पूरी अब,
और अंग-रहित अराधि करिहैं कहा ॥५॥
वाही मुख मंजुल की चहति मरीचैं सदा,
हमकौ तिहारी ब्रह्म-ज्योति करिबौ कहा।
कहै रतनाकर सुधाकर-उपासिनि कौ
भानु की प्रभानि कौ जुहारि जरिबौ कहा।
भोगि रही बिरचे विरंचि के संजोग सबै,
ताके सोग सारन कौ जोग चरिबौ कहा।
जब ब्रजचंद कौ चकोर चित चारु भयौ,
बिरह-चिगारिन सौ फेरि डरिबौ कहा ॥६॥
साधि लैहैं जोग के जटिल जे विधान ऊधौ,
बाँधि लैहैं लंकनि लपेटि मृगछाला हू।
कहै रतनाकर सु मेलि लैहैं छार अंग,
झेलि लैहैं ललकि घनेरे घाम पाला हू ॥

तुम तौ कही औ अनकही कहि लीनी सबै,
अब जौ कहौ तौ कहैं कछू ब्रज-वाला हू।
ब्रह्म मिलिबै तैं कहा मिलिहै बताबौ हमें,
ताकौ फल जब लौं मिलै ना नँदलाला हू ॥७॥
चहत निकारन तिन्हें जो उर अन्तर तैं,
ताकौ जोग नाहिं जोग-मंतर तिहारे मैं।
कहै रतनाकर विलग करिबै मैं होति,
नीति विपरीत महा कहति पुकारे मैं॥
तातैं तिन्हें ल्याइ लाइ हिय तैं हमारे बेगि,
सोचिये उपाय फेरि चित्त चेतवारे मैं॥
ज्यौं-ज्यौं बसे जात दूरि-दूरि प्रिय प्रान-मूरि,
त्यौं-त्यौं धँसे जात मन-मुकुर हमारे मैं ॥८॥
('उद्धव शतक' से)

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. सूरदास के 'भ्रमर-गीत' से रत्नाकर के 'गोपी-उद्धव-संवाद' की तुलना कीजिए।
२. 'भीष्म-प्रतिज्ञा' के काव्य-सौंदर्य का विवेचन कीजिए।
३. 'रत्नाकर' के काव्य की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

सुकवि-शिरोमणि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म आजमगढ़ जिले के निजामावाद नामक ग्राम में १८६५ ई० में हुआ। 'हरिऔध' जी ने आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के समकालीन होते हुए भी उनके प्रभाव से सर्वथा मुक्त रहकर विभिन्न और विरोधी शैलियों में साहित्य-सर्जन का कार्य किया है। इससे उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व का गौरव प्रकट होता है। व्रजभाषा, संस्कृत-गर्भित हिन्दी, ठेठ वोलचाल की हिन्दी इन सभी पर उनका यथेष्ट अधिकार था। हिन्दी-संस्कृत के अतिरिक्त वे उर्दू फारसी के भी अच्छे ज्ञाता थे। उनके ग्रंथों की लम्वी भूमिकाओं से उनकी गंभीर विद्वत्ता और विचारशीलता का परिचय मिलता है। सरकारी सेवा से अवकाश ग्रहण कर चुकने के वाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में 'हरिऔध' जी ने अध्यापन भी किया था। चिरकाल तक अनेक प्रकार से राष्ट्रभाषा हिन्दी की सेवा करते हुए भारती के इस महान् उपासक ने १९४७ ई० में इस संसार से विदा ली।

सरसता और भावुकता के विचार से 'हरिऔध' जी की समस्त कृतियों में संस्कृत के वर्ण-वृत्तों में लिखा गया तथा संस्कृत की समस्त पदावली से युक्त उनका 'प्रिय-प्रवास' ही सर्वश्रेष्ठ ठहरता है। यद्यपि इस काव्य का मूल कथानक श्रीकृष्ण के व्रज से मथुरा जाने से उद्भूत व्रजवासियों की विरह-व्यथा के प्रसंग तक सीमित होने के कारण अत्यन्त सूक्ष्म है, किंतु सहृदय कवि ने अपनी अनुभूतिमयी संवेदनशील कल्पना के प्रसार द्वारा इतने करुण-रस-सिक्त प्रसंगों की अवतारणा की है कि

सारा ग्रंथ वेदनाजनित अश्रुओं का एक सागर बन गया है। बीच-बीच में प्रकृति के सुन्दर चित्रण से काव्य के आकर्षण में अभिवृद्धि हुई है। विश्व के प्रेम में डूबी हुई जनसेविका राधा तथा लोक-कल्याण के कार्यों में व्यस्त कर्मयोगी कृष्ण के चित्रण द्वारा काव्य के लिए एक नया आदर्श प्रस्तुत किया गया है। यशोदा के चरित्र-चित्रण में मातृ-हृदय के अलौकिक स्नेह तथा विवशतापूर्ण व्यथा का अंकन जिस कुशल कलाकार की सधी हुई तूलिका से किया गया है, वह आधुनिक हिन्दी साहित्य में अप्रतिम है।

'बोलचाल', 'वैदेही बनवास' और 'रस-कलस' आदि अनेक श्रेष्ठ काव्य-ग्रंथों के अतिरिक्त 'ठेठ हिंदी का ठाठ' तथा 'अधखिला फूल' नामक उपन्यास और 'हिंदी साहित्य का विकास' नामक इतिहास-ग्रंथ 'हरिऔध' जी की महत्वपूर्ण गद्य-रचनाएँ हैं।

सूचना—अपनी भाषा को मधुरतर बनाने के उद्देश्य से 'हरिऔध' जी ने वेदना, विपुल आदि अनेक शब्दों में ब्रजभाषा के रूपों का अनुकरण करते हुए, व के स्थान पर ब का प्रयोग किया है।

यशोदा के वचन उद्धव के प्रति

मेरे प्यारे कुशल सुखी और सानन्द तो हैं ?
कोई चिन्ता मलिन उनको तो नहीं है बनाती ?
ऊधो छाती बदन पर है म्लानता भी नहीं तो ?
हो जाती हैं हृदय तल में तो नहीं बेदनायें ।।१।।

मीठे-मेवे मृदुल नवनी और पक्वान्न नाना ।
धीरे प्यारों सहित सुतको कौन होगी खिलाती ।
प्रातः पीता सु-पय कजरी गाय का चाव से था ।
हा ! पाता है न अब उनको प्राण प्यारा हमारा ।।२।।

संकोची है परम अति ही धीर है लाल मेरा ।
लज्जा होती अमित उसको माँगने में सदा थी ।
जैसे लेके स-रुचि सुत को अंक में मैं खिलाती ।
हा! वैसे ही अब नित खिला कौन वामा सकेगी ।।३।।

मैं थी सारा दिवस मुख को देखते ही विताती ।
हो जाती थी व्यथित उसको म्लान जो देखती थी ।
हा ! वैसे ही अब बदन को देखती कौन होगी ।
ऊधो माता-सदृश ममता अन्य की है न होती ।।४।।

खाने पीने शयन करने आदि की एक बेला ।
जो जाती थी कुछ टल कभी खेद होता बड़ा था ।
ऊधो ऐसी दुखित उसके हेतु क्यों अन्य होगी ।
माता की सी अवनितल में है अ-माता न होती ।।५।।

जो पाती हूँ कुँवर-मुख के जोग मैं भोग प्यारा ।
तो होती हैं हृदय-तल में बेदनायें बड़ी ही ।
जो कोई भी सु-फल सुत के योग्य मैं देखती हूँ ।
हो जाती हूँ व्यथित अति ही दग्ध होती महा हूँ ॥६॥

जो लाती थी विविध रंग के मुग्धकारी खिलौने ।
वे आती हैं सदन अब भी कामना में पगी सी ।
हा ! जाती हैं पलट जब वे हो निराशा-निमग्ना ।
तो उन्मत्ता-सदृश मग की ओर मैं देखती हूँ ॥७॥

आते लीला-निपुण नट हैं आज भी बाँध आशा ।
कोई यों भी न अब उनके खेल को देखता है ।
प्यार होते मुदित कितने कौतुकों से सदा थे ।
वे आंखों में विषम दव हैं दर्शकों के लगाते ॥८॥

प्यारा खाता रुचिर नवनी को बड़े चाव से था ।
खाते-खाते पुलक पड़ता नाचता कूदता था ।
ए बातें हैं सरस नवनी देखते याद आतीं ।
हो जाता है मधुरतर औ' स्निग्ध भी दग्धकारी ॥९॥

हा ! जो वंशी सरस रव से विश्व को मोहती थी ।
सो आले में मलिन बन औ' मूक हो के पड़ी है ।
जो छिद्रों से अमिय बरसा मूरि थी मुग्धता की ।
सो उन्मत्ता परम- विकला उन्मना है बनाती ॥१०॥

प्यारे ऊधो सुरत करता लाल मेरी कभी है ?
क्या होता है न अब उसको ध्यान बूढ़े पिता का ?

रो रो, हो हो विकल अपने वार जो हैं बिताते ।
हा ! वे सीधे सरल शिशु हैं क्या नहीं याद आते ॥११॥

कैसे भूलीं सरस-खनि सी प्रीति की गोपिकायें ।
कैसे भूले सुहृदपन के सेतु से गोप ग्वाले ।
शान्ता धीरा मधुर-हृदया प्रेम-रूपा रसज्ञा ।
कैसे भूली प्रणय-प्रतिमा राधिका मोहमग्ना ॥१२॥

कैसे बृन्दा-विपिन विसरा क्यों लता बेलि भूलीं ।
कैसे जी से उतर सिगरी कुंज-पुंजें गई हैं ।
कैसे फूले विपुल फल से नम्र भूजात भूले ।
कैसे भूला विकच तरु सो कालिंदी कूलवाला ॥१३॥

सोती सोती चिहुँक कर जो श्याम को है बुलाती ।
ऊधो मेरी यह सदन की सारिका कान्त-कण्ठा ।
पाला-पोसा प्रति-दिन जिस श्याम ने प्यार से है ।
हा ! कैसे सो हृदय-तल से दूर यों हो गयी है ॥१४॥

कुंजों-कुंजों प्रतिदिन जिन्हें चाव से था चराया ।
जो प्यारी थीं परम व्रज के लाड़िले को सदा ही ।
खिन्ना दीना-विकल बन में आज जो घूमती है ।
ऊधव कैसे हृदय-धन को हाय ! वे धेनु भूलीं ॥१५॥

ऐसा प्रायः अब तक मुझे नित्य ही है जनाता ।
गो-गोपों के सहित बन से सद्म है श्याम आता ।
यों ही आके हृदय-तल को बेधता मोह लेता ।
मीठा-मीठा मुरलि-रव है कान में गूंज जाता ॥१६॥

रोते-रोते तनिक लग जो आँख जाती कभी है।
तो यों ही मैं युगल-दृग को चौंक के खोलती हूँ।
प्रायः ऐसा प्रति रजनि में ध्यान होता मुझे है।
जैसे आके सुअन मुझको प्यार से है जगाता ॥१७॥

ऐसा ऊधो प्रति-दिन कई वार है ज्ञात होता।
कोई यों है कथन करता लाल आया तुम्हारा।
भ्रांता सी अब तक गई द्वार पै वार लाखों।
हा आँखों से न वह विछुड़ी श्यामली मूर्ति देखी ॥१८॥

फूले कुंजों-सदृश दृग से मोहते मानसों को।
प्यारे-प्यारे वचन कहते खेलते मोद देते।
ऊधो ऐसी अनुमिति सदा हाय ! होती मुझे है।
जैसे आता निकल अब ही लाल है मंदिरों से ॥१९॥

आके मेरे निकट नवनी-लालची लाल मेरा।
लीलायें था बिविध करता धूम भी था मचाता।
ऊधो बातें न यक पल भी हाय ! वे भलती हैं।
हा ! छा जाता युगल-दृग में आज भी सो समा है ॥२०॥

मैं हाथों से कुटिल अलकें लाल की थी बनाती।
पुष्पों को भी युगल श्रुति के कुंडलों में सजाती।
मुक्ताओं को शिर-मुकुट में मुग्ध हो थी लगाती।
पीछे शोभा निरख मुख की थी न फूली समाती ॥२१॥

मैं प्रायः ले कुसुम-कलिका चाव से थी बनाती
शोभावाले बिबिध गजरा कीत औत कुण्डलों की।

पीछे प्यारों सहित इनको श्याम को थी पिन्हाती ।
औ' उत्फुल्ला ग्रथित-कलिका-तुल्य थी पूर्ण होती ।।२२।।

पैन्हे प्यारे वसन कितने दिव्य आभूषणों को ।
प्यारी वाणी विहँस कहते पूर्ण उत्फुल्ल होते ।
शोभा-शाली सुअन जब था क्रीड़ता सद्म मेरे ।
तो पा जाती अमर-पुर की सर्वसम्पत्ति मैं थी ।।२३।।

होता राका-शशि उदय था फूलता पद्म भी था ।
प्यारी धारा उमग वहती चारु पीयूष की थी ।
मेरा प्यारा तनय जब था गेह में नित्य ही तो ।
बंशी द्वारा मधुरतर था स्वर्ग संगीत होता ।।२४।।

ऊधो मेरे दिवस अब वे हाय ! क्या हो गये हैं ।
हा ! यों मेरे सुख-सदन को कौन क्यों है नसाता ।
वैसे प्यारे दिवस अब मैं क्या नहीं पा सकूँगी ।
हा ! क्या मेरी न अब दुख की यामिनी दूर होगी ।।२५।।

ऊधो मेरा हृदय-तल था एक उद्यान न्यारा ।
शोभा देती अमित उसमें कल्पना-क्यारियाँ थीं ।
प्यारे-प्यारे कुसुम कितने भाव के थे अनेकों ।
उत्साहों के विपुल-विटपी मुग्धकारी महा थे ।।२६।।

सच्चिन्ता की सरस-लहरी-सँकुला वापिका थीं ।
लोनी-लोनी नवल लतिका थीं अनेकों उमंगे ।
धीरे-धीरे मधुर हिलतीं वासना-बेलियाँ थीं ।
सद्वांछा के विहग उसके मंजुभाषी बड़े थे ।।२७।।

प्यारा-प्यारा मुख सुत-वधू-भावनी का सलोना ।
प्रायः होता प्रकट उसमें फुल्ल अम्भोज-सा था ।
बटे द्वारा विविध-सुख के लाभ की लालसायें ।
हो जाती थीं विकच बहुधा माधवी पुष्पिता सी ॥२८॥

प्यारी आशा-पवन जब थी डोलती स्निग्ध होके ।
तो होती थी अनुपम छटा बाग के पादपों की ।
हो जाती थीं सकल लतिका-बेलियाँ शोभनीया ।
सद्भावों के सुमन बनते सौरभीले बड़े थे ॥२९॥

राका-स्वामी-सरस-सुख की दिव्य-न्यारी-कलायें ।
धीरे-धीरे पतित जब थीं स्निग्धता साथ होतीं ।
तो आभा में अतुल छबि में औ' मनोहारिता में ।
हो जाता सा अधिकतर था नन्दनोद्यान से भी ॥३०॥

ऐसा प्यारा-सरस अति ही रम्य उद्यान मेरा ।
मैं होती हूँ व्यथित कहते आज है ध्वंस होता ।
सूखे जाते सकल तरु हैं नष्ट होती लता हैं ।
निष्पुष्पा हो विपुल-मलिना बेलियाँ हो रही हैं ॥३१॥

प्यारे-पौधे कुसुम-कुल के पुष्प ही हैं न लाते ।
भूले जाते बिहग अपनी बोलियाँ हैं अनूठी ।
हा ! जावेगा विनस अति ही मंजु उद्यान मेरा ।
जो सींचेगा न घन-तन आ स्नेह-सद्वारि द्वारा ॥३२॥

ऊधो आदौ तिमिर-मय था भाग्य-आकाश मेरा ।
धीरे-धीरे फिर वह हुआ स्वच्छ सत्कान्ति-शाली ।

ज्योतिर्माला-वलित उसमें चन्द्रमा एक न्यारा।
प्यारा-प्यारा समुदित हुआ चित्त-उत्फुल्लकारी ॥३३॥

आभा-वाले उस गगन में हाय! दुर्भाग्यता की।
काली-काली अब फिर घटा है महा-घोर छाई।
हा! आँखों से सुविधु जिससे हो गया दूर मेरा।
ऊधो कैसे यह दुख-मयी मेघ-माला टलेगी ॥३४॥

फूले-नीले-वनज-दल सा गात का रंग प्यारा।
मीठी-मीठी मलिन मन की मोहिनी मंजु बातें।
सोंधे-डूबी अलक जब है श्याम की याद आती।
ऊधो मेरे हृदय पर तो साँप है लोट जाता ॥३५॥

पीड़ाकारी करुण स्वर से हो महा उन्मना सी।
हा! रो-रो के स-दुख जब यों सारिका पूछती है।
बंशीवाला हृदयधन सो श्याम मेरा कहाँ है।
तो है मेरे हृदय-तल में शूल-सा विद्ध होता ॥३६॥

त्यौहारों को अपर कितने पर्व औ' उत्सवों को।
मेरा प्यारा तनय अति ही भव्य देता बना था।
आते हैं वे ब्रज अवनि में आज भी किन्तु ऊधो।
दे जाते हैं परम दुख औ' बेदना हैं बढ़ाते ॥३७॥

कैसा प्यारा जनम दिन था धूम कैसी मची थी।
संस्कारों के समय सुत के रंग कैसा जमा था।
मेरे जी में उदय जब वे दृश्य हैं आज होते।
हो जाती तो प्रबल दुख से मूर्छिता मैं हूँ शिला सी ॥३८॥

कालिन्दी के पुलिन पर की मध्य-वृन्दाटवी की ।
फूलोंवाले विटप ढिग की, कुंज की, आलयों की ।
प्यारी-लीला-सकल जब हैं लाल की याद आतीं ।
तो कैसा है हृदय मलता मैं बता क्यों उसे दूँ ॥३९॥

मारा मल्लों सहित गज को, कंस से पातकी को ।
मेटी सारी नगर-वर की दानवी-आपदायें ।
छाया सच्चा-सुयश जग में पुण्य की बेलि बोई ।
जो प्यारे ने स-पति दुखिया-देवकी को छुड़ाया ॥४०॥

जो होती है सुरत उनके कम्प-कारी दुखों की ।
तो आँसू है विपुल बहता आज भी लोचनों से ।
ऐसी दग्धा परम दुखिता जो हुई मोदिता है ।
ऊधो तो हूँ परम सुखिता हर्षिता आज मैं भी ॥४१॥

तो भी पीड़ा-परम इतनी बात से हो रही है ।
काढ़े लेती मम हृदय क्यों स्नेह-शीला सखी है ।
हो जाती हूँ मृतक सुनती हाय ! जो यों कभी हूँ ।
होता जाता मम तनय भी अन्य का लाड़िला है ॥४२॥

मैं रोती हूँ हृदय अपना कूटती हूँ सदा ही ।
हा ! ऐसा ही व्यथित अब क्यों देवकी को करूँगी ।
प्यारे जीवें प्रफुलित रहें औ' बने भी उन्हीं के ।
धाई नाते वदन दिखला और बारेक जावें ॥४३॥

नाना पूजा अपर कितने यत्न द्वारा जरा में ।
मैंने ऊधो ! सुकृति बल से एक ही पुत्र पाया ।

सो जा बैठा अरि नगर में हो गया अन्य का है ।
मेरी कैसी, अहह कितनी मर्म-बेधी व्यथा है ।।४४।।

पत्रों पुष्पों रहित विटपी विश्व में हो न कोई ।
कैसी ही हो सरस सरिता वारि-शून्या न होवे ।
ऊधो सीपी-सदृश न कभी भाग फूटे किसी का ।
मोती ऐसा रतन अपना आह ! कोई न खोवे ।।४५।।

अंभोजों से रहित न कभी अंक हो वापिका का ।
पुष्पों-वाली कलित-लतिका पुष्पहीना न होवे ।
जो प्यारा है परमधन है जीवनाधार जो है ।
ऊधो ऐसे रुचिर-विटपी-शून्य वापी न होवे ।।४६।।

छीना जावे लकुट न कभी वृद्धता में किसी का ।
ऊधो कोई न कल-छल से लाल ले ले किसी का ।
पूंजी कोई जनम भर की गाँठ से खो न देवे ।
सोने का भी सदन न विना दीप के हो किसी का ।।४७।।

उद्विग्ना औ' विपुल-विकला क्यों न सो धेनु होगी ।
प्यारा लैरू अलग जिसकी आँख से हो गया है ।
ऊधो कैसे व्यथित-फणि सो जी सकेगा बता दो ।
जीवोन्मेषी रतन जिसके शीश का खो गया है ।।४८।।

कोई देखे न सब जग के बीच छाया अँधेरा ।
ऊधो कोई न निज-दृग की ज्योति-न्यारी गँवावें ।
रो रो हो हो विकल न सभी बार बीतें किसी के ।
पीड़ायें हों सकल, न कभी मर्म-बेधी-व्यथा हो ।।४९।।

ऊधो होता समय पर जो चारु चिन्ता-मणी है।
खो देता है तिमिर उर का जो स्वकीया प्रभा से।
जो जी में है सुरसरित की स्निग्ध धारा वहाता।
बेटा ही है अवनि-तल में रत्न ऐसा निराला ॥५०॥

ऐसा प्यारा रतन जिसका हो गया है पराया।
सो होवेगी व्यथित कितना सोच जी में तुम्हीं लो।
जो आती हो मुझ पर दया अल्प भी तो हमारे।
सूखे जाते हृदय-तल में शान्ति-धारा वहा दो ॥५१॥

छाता जाता व्रज-अवनि में नित्य ही है अँधेरा।
जी में आशा न अव यह है मैं सुखी हो सकूँगी।
हाँ इच्छा है तदपि इतनी और बारेक आके।
प्यारा प्यारा वदन अपना लाल मेरा दिखा दे ॥५२॥

मैंने बातें यदपि कितनी भूल से की बुरी हैं।
ऊधो बाँधा सुअन-कर है आँख भी है दिखाई।
मारा भी है कुसुम-कलिका से कभी लाड़िले को।
तो भी मैं हूँ निकट सुत के सर्वथा मार्जनीया ॥५३॥

जो चूकें हैं विविध मुझसे हो चुकीं वे सदा ही।
पीड़ा देती परम चित को औ' सताती महा हैं।
प्यारे से यों विनय करना वे उन्हें भूल जावें।
मेरे जी को व्यथित न करें क्षोभ आके मिटावें ॥५४॥

खेलें आके युगल दृग के सामने, मंजु बोलें।
प्यारी लीला पुनरपि करें गान मीठा सुनावें।

मेरे जी में अब रह गई एक ही कामना है।
आके प्यारे कुँवर उजड़ा गेह मेरा बसावें ॥५५॥

जो आँखें हैं उमग खुलती ढूंढ़तीं श्याम को हैं।
लौ कानों को मुरलिधर की तान ही की लगी है।
आती सी है यह ध्वनि सदा रोम-कूपों सभी से।
मेरा प्यारा सुअन ब्रज में और वारेक आवे ॥५६॥

मेरी आशा नवल-लतिका थी बड़ी ही मनोज्ञा।
नीले पत्ते सकल उसके नीलमों के बने थे।
हीरे के थे कुसुम, फल थे लाल गोमेदकों के।
पन्नों द्वारा रचित उसकी सुन्दरी डंडियाँ थीं ॥५७॥

ऐसी आशा-ललित लतिका हो गई शुष्कप्राया।
सारी शोभा रतन-जनिता नित्य है नष्ट होती।
जो आवेगा न अब ब्रज में श्याम सत्कान्ति-शाली।
होगी हो के विरस वह तो सर्वथा छिन्न-मूला ॥५८॥

लोहू मेरे युगल-दृग से अश्रु की ठौर आता।
रोयें-रोयें सकल-तन के दग्ध हों छार होते।
आशा होती न यदि मुझको श्याम के लौटने की।
मेरा सूखा हृदय-तल तो सैकड़ों खंड होता ॥५९॥

चिन्ता-रूपा मलिन निशि की कौमुदी है अनूठी।
मेरी जैसी मृतक बनती हेतु संजीवनी है।
नाना-पीडा-मथित-मन के अर्थ है शान्ति-धारा।
आशा मेरे हृदय-मरु की मंजु मंदाकिनी है ॥६०॥

एसी आशा सफल जिससे हो सके, शान्ति पाऊँ।
ऊधो मेरी सव-दुख-हरी-युक्ति-न्यारी वही है।
प्राणाधारा अवनितल में है यही एक आशा।
मैं देखूँगी पुनरपि वही श्यामली मूर्ति आँखों ॥६१॥

पीड़ा होती अधिकतर है बोध देते जभी हो।
सन्देशों से व्यथित चित है और भी दग्ध होता।
जैसे प्यारा-वदन सुत का देख पाऊँ पुनः मैं।
ऊधो हो के सदय मुझको यत्न वे ही वता दो ॥६२॥

प्यारे ऊधो कब तक तुम्हें वेदनायें सुनाऊँ।
मैं होती हूँ विरत, यह हूँ किन्तु तो भी वताती।
जो टूटेगी वर-कुंवर के लौटने की सुआशा।
तो जावेगा उजड़ ब्रज औ' मै न जीती बचूँगी ॥६३॥

('प्रिय-प्रवास' से)

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. पठित अंश के आधार पर पुत्र-वियुक्ता यशोदा की पीड़ा का अंकन कीजिए।
२. 'हरिऔध' के काव्य की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

मैथिलीशरण गुप्त

महाकवि मैथिलीशरण गुप्त का जन्म १८८६ में झाँसी जिले के चिरगाँव नामक स्थान में हुआ था। राम की भक्ति और कविता का वरदान कवि को अपने पिता स्वर्गीय सेठ श्री रामचरण जी से उत्तराधिकार में मिले। खड़ी बोली काव्य को विशेष प्रोत्साहन देने वाले स्वर्गीय पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी को गुप्त जी ने अपना काव्य-गुरु माना और 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से उनकी रचनाएँ हिन्दी-जगत् में प्रकाश पाने लगीं। १९१२ ई० में उनका 'भारत-भारती, नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ जिससे उनका राष्ट्रीयता और नव-जागरण का सन्देश देश के कोने-कोने में पहुँचा। इसके पश्चात् उनकी चालीस से अधिक कृतियां प्रकाशित हुईं जिनमें 'पंचवटी', 'जयद्रथवध,' 'यशोधरा,' 'साकेत,' 'द्वापर' और 'जयभारत' प्रमुख हैं। गुप्त जी के जीवन का प्रायः सभी समय साहित्य-साधना में ही व्यतीत हुआ है। आप भारतीय संसद के सदस्य तथा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी के अवैतनिक प्रोफेसर थे। दिसंबर १९६४ में आपका निधन हुआ।

'साकेत' गुप्त जी की कीर्ति का सबसे बड़ा स्तम्भ है। इसमें कवि ने राम-कथा को अधिक तर्क-सम्मत रूप में प्रस्तुत करते हुए उपेक्षित एवं लांछित पात्रों की ओर विशेष ध्यान दिया है। उपेक्षित पात्रों में हैं उर्मिला, लक्ष्मण और शत्रुघ्न तथा लांछित पात्र है कैकेयी। कैकेयी ने दशरथ से दो वरदान मांगे यह तो ठीक है। किन्तु 'साकेत' में कवि ने उस मनोवैज्ञानिक परिस्थिति का विशद अंकन किया है जिसमें पड़कर राम को कौशल्या से भी अधिक प्यार करने वाली कैकेयी ऐसे कठोर

वरदान माँगने के लिए विवश हो जाती है। परिस्थिति के इस मनोवैज्ञानिक चित्रण से कैकेयी के अपराध की गुरुता काफी कम हो गई है, और आगे चलकर जब वह सच्चे हृदय से अपने इस गर्हित कार्य पर पश्चात्ताप करती है, तब उसके अवशिष्ट दोष का भी मार्जन हो जाता है।

गुप्त जी का काव्य-क्षेत्र विषय और शैली दोनों की दृष्टियों से अत्यधिक विस्तृत है। महाकाव्य, खंडकाव्य और मुक्तक सभी कुछ उन्होंने लिखे हैं। काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोलीको निखारने वालों में वे अग्रणी हैं। अपने प्रबन्ध-काव्यों में उन्होंने महान और आदर्श पात्रों की सृष्टि की है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "गुप्त जी को लोक-चित्त में राष्ट्र-प्रीति की भावना जगाने वाले सबसे शक्तिशाली कवि के रूप में हिन्दी जगत् देखता आया है। वे सच्चे अर्थों में राष्ट्र-कवि हैं।"

कैकेयी का वर माँगना

लेखनी, अब किस लिए विलम्ब ?
बोल, जय भारति, जय जगदम्ब।
प्रकट जिसका यों हुआ प्रभात,
देख अब तू उस दिन की रात।

× × × ×

धरा पर धर्मादर्श–निकेत
धन्य है स्वर्ग-सदृश साकेत।
बढ़े क्यों आज न हर्षोद्रेक ?
राम का कल होगा अभिषेक।
दशों दिग्पालों के गुण-केन्द्र,
धन्य हैं दशरथ मही-महेन्द्र,
त्रिवेणी–तुल्य रानियाँ तीन,
बहातीं सुख–प्रवाह नवीन।
मोद का आज न ओर न छोर,
आम्रवन-सा फूला सब ओर।
किन्तु हा ! फला न सुमन-क्षेत्र,
कीट बन गये मन्थरा–नेत्र,
देख कर कैकेयी यह हाल,
आप उससे बोली तत्काल–
"अरी, तू क्यों उदास है आज,
वत्स जब कल होगा युवराज ?"

[मन्थरा बोली निस्संकोच--
"आपको भी तो है कुछ सोच ?"
हँसी रानी सुन कर वह वात,
उठी अनुपम आभा अवदात ।
"सोच है मुझको निस्संदेह ।
भरत जो है मामा के गेह।
सफल करके निज निर्मल-दृष्टि,
देख वह सका न यह सुख-सृष्टि !"]
ठोंककर अपना क्रूर कपाल,
जताकर यही कि फूटा भाल,
किंकरी ने तब कहा तुरन्त—
"हो गया भोलेपन का अन्त ।
न समझी कैकेयी वह वात,
कहा उसने-"यह क्या उत्पात ?
वचन क्यों कहती है तू वाम ?
नहीं क्या मेरा बेटा राम ?"
"और वे औरस भरत कुमार ?"]
कुदासी बोली कर फटकार ।
कहा रानी ने पाकर खेद—
"भला दोनों में है क्या भेद ?"
"भेद ?"—दासी ने कहा सतर्क-
"सबेरे दिखला देगा अर्क ।

राजमाता होंगी जब एक,
दूसरी देखेंगी अभिषेक ?"
रोक कर कैकेयी ने रोष,
कहा—"देती है किसको दोष ।
राम की मां क्या कल या आज,
कहेगा मुझे न लोक-समाज ।"
कहा दासी ने धीरज त्याग—
'लगे इस मेरे मुंह में आग ।
मुझे क्या ? मैं होती हूं कौन ?
नहीं रहती हूं फिर भी मौन ?
देखकर किन्तु स्वामि-हित-घात,
निकल ही जाती है कुछ बात,
इधर भोली हैं जैसी आप,
समझती सबको वैसी आप ।
नहीं तो यह सीधा षड्यंत्र,
रचा क्यों जाता यहाँ स्वतन्त्र !
महारानी कौसल्या आज,
सहज सज लेतीं क्या सब साज ?"
कहा रानी ने—"क्या षड्यन्त्र ?
वचन हैं तेरे मायिक मन्त्र ।
हुई जाती हूँ मैं उद्भ्रान्त,
खोल कर कह तू सब वृत्तान्त ।

मन्थरा ने फिर ठोंका भाल—
"शेष है अब भी क्या कुछ हाल ?
सरलता भी ऐसी है व्यर्थ,
समझ जो सके न अर्थानर्थ।
भरत को करके घर से त्याज्य,
राम को देते हैं नृप राज्य।
भरत-से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह।"
कहा कैकेयी ने सक्रोध—
"दूर हो दूर अभी निर्बोध!
सामने से हट अधिक न बोल,
द्विजिह्वे, रस में विष मत घोल।
उड़ाती है तू घर में कीच,
नीच ही होते हैं बस नीच।
हमारे आपस के व्यवहार,
कहाँ से समझे तू अनुदार ?"
हुआ भ्रू-कुंचित भाल विशाल,
कपोलों पर हिलते थे बाल।
प्रकट थी मानों शासन-नीति,
मन्थरा सहमी देख सभीति।
तीक्ष्ण थे लोचन अटल अडोल,
लाल थे लाली भरे कपोल।

न दासी देख सकी उस ओर,
जला दे कहीं न कोप कठोर।
किन्तु वह हटी न अपने आप,
खड़ी हो रही नम्र चुपचाप।
अन्त में बोली स्वर-सा साध—
"क्षमा हो मेरा यह अपराध।
स्वामि-सम्मुख सेवक या भृत्य,
आप ही अपराधी हैं नित्य।
दंड दें कुछ भी आप समर्थ,
कहा क्या मैंने अपने अर्थ?
समझ में आया जो कुछ मर्म,
उसे कहना था मेरा धर्म।
न था वह मेरा अपना कृत्य,
भर्तृ हैं भर्तृ, भृत्य हैं भृत्य।"
मही पर अपना माथा टेक,
भरा था जिसमें अति अविवेक,
किया दासी ने उसे प्रणाम,
और वह चली गई अविराम,

× × × ×

गई दासी, पर उसकी बात,
दे गई मानों कुछ अज्ञात—

'भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह !'
पवन भी मानों उसी प्रकार,
शून्य में करने लगा पुकार--
'भरत से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह !'
गूँजते थे रानी के कान,
तीर-सी लगती थी वह तान--
'भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह !'
मूर्ति-सी बनी हुई उस ठौर,
खड़ी रह सकी न अब वह और।
गई शयनालय में तत्काल,
गँभीरा सरिता सी थी चाल।
न सह कर मानों तनु का भार,
लेट कर करने लगी विचार।
कहा तब उसने--"हे भगवान,
आज क्या सुनते हैं ये कान ?
मनोमंदिर की मेरी शान्ति,
बनी जाती है क्यों उत्क्रान्ति ?
लगा दी किसने आकर आग ?
कहाँ था तू संशय के नाग ?

नाथ, कैकेयी के वर-वित्त,
चीर कर देखो उसका चित्त।
स्वार्थ का वहाँ नहीं है लेश,
वसे हो एक तुम्हीं प्राणेश।
सदा थे तुम भी परमोदार,
हुआ क्यों सहसा आज विकार ?
भरत-से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उसे जो गेह।
न थी हम माँ-बेटे की चाह,
आह ! तो खुली न थी क्या राह ?
मुझे भी भाई के घर नाथ,
भेज क्यों दिया न सुत के साथ ?
राज्य का अधिकारी है ज्येष्ठ,
राम में गुण भी हैं सब श्रेष्ठ।
भला फिर भी क्या मेरा वत्स,
शान्त रस में बनता बीभत्स ?
तुम्हारा अनुज भरत हे राम,
नहीं है क्या नितान्त निष्काम ?
जानते जितना तुम कुलधन्य,
भरत को कौन जानता अन्य ?
भरत रे भरत, शील-समुदाय,
गर्भ में आकर मेरे हाय !

हुआ यदि तू भी संशय-पात्र,
दग्ध हो तो मेरा यह गात्र !
चली जा पृथ्वी, तू पाताल,
आपको संशय में मत डाल।
कहीं तुझ पर होता विश्वास,
भरत में पहले करता बास।
अरे विश्वास विश्व – विख्यात,
किया है किसने तेरा घात !
भरत ने ? वह है तेरी मूर्ति,
राम ने ? वह है प्राणस्फूर्ति।
देव ने ? वे हैं सदय सदैव,
दैव ने ? हा घातक दुर्दैव !
तुझे क्या हे अदृष्ट, है इष्ट !
सूर्य-कुल का हो आज अरिष्ट ?
बाँध सकता है कहां परन्तु–
राघवों को अदृष्ट का तन्तु ?
भाग्य-वश रहते हैं बस दीन,
वीर रखते हैं उसे अधीन।
हाय ! अब तूने अरे अदृष्ट,
किया क्या जीजी को आकृष्ट ?
जान कर अबला, अपना जाल–
दिया है उस सरला पर डाल ?

किन्तु हा ! यह कैसा सारल्य,
सालता है जो बनकर शल्य ।
भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उसे जो गेह ।
बहन कौसल्ये कह दो सत्य,
भरत था मेरा कभी अपत्य ?
पुत्र था कभी तुम्हारा राम ?
हाय रे ! फिर भी यह परिणाम ?
किन्तु चाहे जो कुछ हो जाय,
सहूँगी कभी न यह अन्याय ।
करूंगी मैं इसका प्रतिकार,
पलट जावे चाहे संसार ।
नहीं है कैकेयी निर्बोध,
पुत्र का भूले जो प्रतिशोध ।
कहें सब मुझको लोभासक्त ।"
किन्तु सुत हूजो तू न विरक्त"

× × × ×

भरत की माँ हो गई अधीर,
क्षोभ से जलने लगा शरीर ।
दाह से भरा सौतिया डाह,
बहाता है बस विषप्रवाह ।

मानिनी कैकेयी का कोप,
बुद्धि का करने लगा विलोप
और रह सकी न अब वह शान्त,
उठी आँधी सी होकर भ्रांत।
एड़ियों तक आ छूटे केश,
हुआ देवी का दुर्गा-वेश।
पड़ा तब जिस पदार्थ पर हस्त,
उसे कर डाला अस्त-व्यस्त।
तोड़ कर फेंके सब शृंगार,
अश्रुमय-से थे मुक्ताहार।
मत्त करिणी-सी दल कर फूल,
घूमने लगी आप को भूल।
चूर कर डाले सुन्दर चित्र,
हो गये वे भी आज अमित्र!
बताते थे आ-आ कर श्वास,
हृदय का ईर्ष्या-वह्नि-विकास।
पतन का पाते हुए प्रहार,
पात्र करते थे हाहाकार—
"दोष किसका है, किस पर रोष,
किन्तु यदि अब भी हो परितोष!"

× × ×

इसी क्षण कौसल्या अन्यत्र,
सजा कर पट-भूषण एकत्र—
वधू को युवराज्ञी के योग्य,
दे रही थीं उपदेश मनोज्ञ;
इधर कैकेयी उनका चित्र,
खींचती थी सम्मुख अपवित्र।
दोष-दर्शी होता है द्वेष,
गुणों को नहीं देखता त्वेष।
राजमाता होकर प्रत्यक्ष,
उसे करके वे मानों लक्ष,
खड़ी हँसती हैं बारम्बार,
हँसी है वह या असि की धार?
उठी तत्क्षण कैकेयी कांप,
अधर-दंशन करके कर चाँप।
भूमि पर पटक पटक कर पैर,
लगी प्रकटित करने निज बैर।
अन्त में सारे अंग समेट,
गईं वह वहीं भूमि पर लेट!
छोड़ती थी जब तब हुंकार,
चुटीली फणिनी सी फुंकार।

× × ×

इधर यों हुआ रंग में भंग,
उर्मिला उधर प्राणपति संग
भरत-विषयक ही वार्तालाप,
छेड़कर सुनती थी चुपचाप
बताते थे लक्ष्मण वह भेद,
कि "इसका है हम सबको खेद।
किन्तु अवसर था इतना अल्प,
न आ सकते वे शुभ-संकल्प
परे थी और न ऐसी लग्न,
पिता भी थे आतुरता-मग्न।
चलो, अविभिन्न आर्य की मूर्ति
करेगी भरत-भाव की पूर्ति।"

× × ×

इस समय क्या करते थे, राम ?
हृदय के साथ हृदय-संग्राम।
उच्च हिमगिरि-से भी वे धीर,
सिन्धु सम थे सम्प्रति गम्भीर।
उपस्थित वह अपार अधिकार,
दीख पड़ता था उनको भार।
पिता का निकट देख बन-वास,
हो रहे थे वे आप उदास।

हाय ! वह पितृ-वत्सलता-भोग,
और निज बाल्यभाव का योग।
विगत सा समझ एक ही संग,
शिथिल-से थे उनके सब अंग।
कहा वैदेही ने—"हे नाथ,
अभी तक चारों भाई साथ—

भोगते थे तुम सम सुख-भोग,
व्यवस्था मेट रही वह योग।
भिन्न-सा करके कोशलराज,
राज्य देते हैं तुमको आज।
तुम्हें रुचता है यह अधिकार ?"
"राज्य है प्रिये, भोग या भार ?
बड़े के लिए बड़ा ही दंड !
प्रजा की थाती रहे अखंड।
तदपि निश्चिन्त रहो तुम नित्य,
यहाँ राहित्य नहीं, साहित्य।
रहेगा साधु भरत का मन्त्र।
मनस्वी लक्ष्मण का बल-तन्त्र।
तुम्हारे लघु देवर का धाम,
मात्र दायित्व-हेतु है राम।"
"नाथ यह राज-नियुक्ति पुनीत,
किन्तु लघु देवर की है जीत।

हुआ जिनके अधीन नृप गेह,—
सचिव-सेनापति-सह सस्नेह।"
कोपना कैकेयी की वात,
किसी को न थी अभी तक ज्ञात।
न जाने पृथ्वी पर प्रच्छन्न,
कहाँ क्या होता है प्रतिपन्न।

× × ×

भूप क्या करते थे इस काल ?
लेखनी, लिख उनका भी हाल।
भूप बैठे थे कुलगुरु संग,
भरत का ही था छिड़ा प्रसंग।
कहा कुल-गुरु ने—"निस्संदेह,
खेद है भरत नहीं जो गेह।
किन्तु वह अवसर था उपयुक्त,
कि नृप हो जावें चिन्ता-मुक्त।
भूप बोले—"हाँ मेरा चित्त,
विकल था आत्म-भविष्य-निमित्त।
इसी से था मैं अधिक अधीर,
आज है तो कल नहीं शरीर।
मार कर धोखे में मुनि-वाल,
हुआ था मुझको शाप कराल।

कि 'तुमको भी निज पुत्र-वियोग,
बनेगा प्राण-विनाशक रोग ।'
अस्तु "यह भरत-विरह अक्लिष्ट,
दुःखमय होकर भी था इष्ट ।
इसी मिष पा जाऊँ चिरशान्ति,
सहज ही समझूँ तो निष्क्रान्ति ।'
दिया नृप को वसिष्ठ ने धैर्य,
कहा—"यह उचित नहीं अस्थैर्य ।
ईश के इंगित के अनुसार,
हुआ करते हैं सब व्यापार ।"
"ठीक है" इतना कह कर भूप,
शान्त हो गये सौम्य शुभरूप ।
हो रहा था उस समय दिनान्त,
वायु भी था मानों कुछ भ्रान्त ।
गोत्र-गुरु और देव भी आद्य,
प्रणतियुत पाकर अर्घ्य सपाद्य,
गये तब जाना था जिस ओर,
चले नृप भी भीतर इस ओर ।

* * *

अरुण संध्या को आगे ठेल,
देखने को कुछ नूतन खेल ।

सजे विधु की वेंदी से भाल,
यामिनी आ पहुँची तत्काल।
सामने कैकेयी का गेह,
शान्त देखा नृप ने सस्नेह।
मन्थरा किन्तु गई थी ताड़,
कि यह है ज्वालामुखी पहाड़।
पधारे तव भीतर भूपाल,
वहाँ जाकर देखा जो हाल।
रह गये उससे वे जड़-तुल्य,
वढ़ा भय-विस्मय का वाहुल्य।
न पाकर मानों आज शिकार,
सिंहनी सोती थी सविकार।
कोप क्या इसका यह एकान्त,
प्राण लेकर भी होगा शान्त।
कुशल है यदि ऐसा हो जाय,
भूप-मुख से निकला बस, "हाय !"
टूट कर यह तारा इस रात,
न जाने, करे न क्या उत्पात !
पड़ी थी विजली-सी विकराल,
लपेटे थे घन-जैसे वाल।
कौन छेड़े ये काले साँप ?
अवनिपति उठे अचानक काँप।

किन्तु करते क्या, धीरज धार,
बैठ पृथिवी पर पहली वार,
खिलाते-से वे व्याल विशाल,
विनयपूर्वक बोले भूपाल--
"प्रिये, किसलिये आज यह क्रोध ?
नहीं होता कुछ मुझको बोध।
तुम्हारा धन है मान अवश्य,
किन्तु हूँ मं तो यों ही वश्य।
जान पड़ता यह नहीं विनोद,
आज यद्यपि सबको है मोद।
सजे जाते हैं सुख के साज,
तुम्हें क्या दुःख हुआ है आज ?
अम्ल होकर भी मधुर रसाल,
गया निज प्रणय-कलह का काल।
आज होकर हम रागातीत,
हुए प्रेमी से पितर पुनीत।
भरत की अनुपस्थिति का खेद,
किन्तु है इसमें ऐसा भेद,
निहित है जिसमें मेरा क्षेम,
प्रिये प्रत्यय रखता है प्रेम।
हुआ हो यदि कुछ रोग-विकार,
बुलाऊँ वैद्य करूँ उपचार।

अमृत भी मुझको नहीं अलभ्य,
कि मैं हूँ अमर-सभा का सभ्य।
किया हो कहीं किसी ने दोष,
कि जिसके कारण है यह रोष।
"बता दो तो तुम उसका नाम,
दैव है निश्चय उस पर वाम।
सुनूं मैं उनका नाम सुमिष्ट,
कौन सी वस्तु तुम्हें है इष्ट ?
जहाँ तक दिनकर-कर-प्रसार,
वहाँ तक समझो निज अधिकार।
किसी को करना हो कुछ दान,
करो तो दुगुना आज प्रदान।
भरा रत्नाकर-सा भाण्डार,
रीत सकता है किसी प्रकार ?
माँगना हो, तुमको जो आज,
मांग लो, करो न कोप न लाज।
तुम्हें पहले ही दो वरदान,
प्राप्य हैं, फिर भी क्यों यह मान ?
याद है वह संवर-रण-रंग,
विजय जब मिली व्रणों के संग ?
किया था किसने मेरा त्राण ?
विकल क्यों करती हो अब प्राण ?"

हुआ सचमुच यह प्रिय संवाद,
आ गयी कैकेयी को याद।
बिना खोले फिर भी वह नेत्र,
चलाने लगी वचनमय वेत्र,
"चलो, रहने दो झूठी प्रीति,
जानती हूँ मैं यह नृप-नीति।
दिया तुमने मुझको क्या मान,
वचनमय वही न दो वरदान?"
भूप ने कहा—"न मारो बोल,
दिखाऊँ कहो हृदय को खोल?
तुम्हीं ने माँगा कब क्या आप?
प्रिये फिर भी क्यों यह अभिशाप?
भला माँगो तो कुछ इस बार,
कि क्या दूँ दान, नहीं उपहार?"
मानिनी बोली, "निज अनुरूप—
न दोगे वे दो वर भी भूप!"
कहा नृप ने लेकर निःश्वास,
"दिलाऊँ मैं कैसे विश्वास?
परीक्षा कर देखो कमलाक्षि!
सुनो तुम भी सुरगण, चिरसाक्षि!
सत्य से ही स्थिर है संसार,
सत्य ही सब धर्मों का सार,

राज्य ही नहीं, प्राण-परिवार,
सत्य पर सकता हूँ सब वार।"
सरल नृप को छलकर इस भाँति,
गरल उगले उरगी जिस भांति,
भरत-सुत-मणि की माँ, मुद मान,
माँगने चली उभय वरदान—
"नाथ, मुझको दो यह वर एक—
भरत का करो राज्य-अभिषेक।
दूसरा, सुन लो, न हो उदास,
चतुर्दश वर्ष राम-वन-वास !"

× × ×

वचन सुन ऐसे क्रूर-कराल,
देखते ही रह गये नृपाल,
वज्र सा पड़ा अचानक टूट,
गया उनका शरीर-सा छूट।
उन्हें यों हतज्ञान-सा देख,
ठोंकती-सी छाती पर मेख,
पुनः बोली वह भौंहें तान—
"मौन हो गये, कहो हाँ या न !"
भूप फिर भी न सके कुछ बोल,
मूर्ति से बैठे रहे अडोल।

दृष्टि ही अपनी करुण कठोर,
उन्होंने डाली उसकी ओर !
कहा फिर उसने देकर क्लेश—
"सत्य-पालन है यही नरेश ?
उलट दो सब तुम अपनी बात,
मरूँ मैं करके अपना घात ।"
कहा तब नृप ने किसी प्रकार—
"मरो तुम क्यों ? भोगो अधिकार
मरूँगा तो मैं अगति-समान,
मिलेंगे तुम्हें तीन वरदान !"
देख ऊपर को अपने आप—
लगे नृप करने यों परिताप
"देव, यह सपना है कि प्रतीति ?
यही है नर नारी की प्रीति ?
किसी को न दें कभी वर देव।
वचन देना छोड़ें नर-देव।
दान में दुरुपयोग का वास,
किया जावे किसका विश्वास ?
जिसे चिन्तामणि-माला जान,
हृदय पर दिया प्रधान स्थान,
अन्त में लेकर यों विष-दन्त
नागिनी निकली वह हा हन्त !

राज्य का ही न तुझे था लोभ,
राम पर भी था इतना-क्षोभ ?
न था वह निस्पृह तेरा पुत्र ?
भरत ही था क्या मेरा पुत्र ?
राम-से सुत को भी वनवास,
सत्य है यह अथवा परिहास
सत्य है तो है सत्यानाश,
हास्य है तो है हत्या-पाश !"
प्रतिध्वनि-मिष ऊँचा प्रासाद।
निरन्तर करता था अनुनाद।
पुनः बोले मुंह फेर महीप—
"राम, हा राम, वत्स कुल-दीप"
हो गये गद्गद् वे इस बार,
तिमिरमय जान पड़ा संसार।
गृहागत चन्द्रालोक-विधान।
जँचा निज भावी-शव-परिधान।
सौध बन गया श्मशान-समान,
मृत्यु सी पड़ी कैकेयी जान।
चिता के अंगारे से दीप,
जलाते थे प्रज्वलित समीप
"हाय! कल क्या होगा ?" कह काँप,
रहे वे घुटनों में मुँह ढाँप।

आपसे ही अपने को आज
छिपाते थे मानो नर-राज !

× × ×

वचन पलटें कि भेजे राम को वन में,
उभय विधि मृत्यु निश्चित जानकर मन में,
हुए जीवन-मरण के मध्य धृत-से वे,
रहे बस अर्द्ध-जीवित, अर्द्ध-मृत से वे।

× × × ×

इसी दशा में रात कटी,
छाती-सी पौ प्रात फटी।
अरुण भानु प्रतिभात हुआ
विरूपाक्ष-सा ज्ञात हुआ !

('साकेत' से)

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. कैकेयी की उस मानसिक पृष्ठभूमि का अंकन कीजिए जिसने उसे दोनों वरदान माँगने के लिए विवश किया। इस मानसिक पृष्ठ-भूमि के प्रकाश में क्या कैकेयी के अपराध की गुरुता कुछ कम हो जाती है ?

२. मैथिलीशरण गुप्त के काव्य की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

जयशंकर 'प्रसाद'

आधुनिक हिन्दी काव्य में छायावाद की धारा का प्रवर्त्तन करने वाले महान् कवि श्री जयशंकर 'प्रसाद' का जन्म १८९० ई० में काशी के 'सुंघनी साहु' नाम से प्रसिद्ध घराने में हुआ। यद्यपि उनकी स्कूल की शिक्षा आठवीं कक्षा के बाद ही समाप्त हो गई थी, किन्तु घर पर रहकर भी उन्होंने आधुनिक देशी और विदेशी साहित्य के अतिरिक्त अपने देश की प्राचीन संस्कृति और इतिहास का गहन अध्ययन और मनन किया था, जिसकी स्पष्ट छाप उनकी प्रत्येक कृति पर है। हिन्दी साहित्य के भांडार को अपनी अनल्प अमर रचनाओं से समृद्ध बनाकर १९३७ ई० में, जब उनकी अवस्था अड़तालीस वर्ष की भी नहीं थी, उन्होंने आत्मा को विश्वात्मा में लीन कर दिया।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "मानवीय दृष्टि के कवि की कल्पना, अनुभूति और चिन्तन के भीतर से निकली हुई, वैयक्तिक अनुभूतियों के आवेग की स्वतःसमुच्छ्वसित अभिव्यक्ति, बिना किसी आयास के और बिना किसी प्रयत्न के स्वयं निकल पड़ा हुआ भावस्रोत ही छायावादी कविता का प्राण है।" 'प्रसाद' जी की काव्य-कृतियों में छायावाद की यह मूल प्रवृत्ति तो आधार रूप में वर्तमान् है ही, साथ ही अतीत के प्रति उनकी आसक्ति तथा एक अव्यक्त अवगुंठनमय चिरंतन प्रिय से मिलने का उनका कुतूहल उन्हें दूसरे छायावादी कवियों से पृथक् कर देता है। उनकी पहली विशेषता ने उनकी रचनाओं को

एक सुदृढ़ सांस्कृतिक आधार प्रदान किया है, तथा दूसरी विशेषता ने उनके काव्य पर आध्यात्मिक रहस्यवाद का एक झीना आवरण डाल दिया है। 'प्रसाद' जी की एक तीसरी विशेषता और है--और वह है उनके अन्तःकरण में निरंतर प्रकाशित रहने वाली देश-प्रेम की अखंड ज्योति। 'प्रसाद' के कवि-व्यक्तित्व की इन अतिरिक्त विशेषताओं के कारण प्रगीत मुक्तक का क्षेत्र उनके लिए बहुत छोटा पड़ गया था, और यही कारण है कि उनकी प्रतिभा का तेज साहित्य के विविध क्षेत्रों में विकीर्ण होता हुआ अन्त में 'कामायनी' महाकाव्य के रूप में प्रकाशित हुआ।

जैसा अभी संकेत किया गया है 'प्रसाद' जी ने केवल कविता ही नहीं, नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध भी लिखे हैं। साहित्य के प्रत्येक वर्ग को उनकी देन असाधारण है।

उद्‌बोधन

बीती विभावरी जाग री !
अम्बर-पनघट में डुबो रही--
तारा-घट ऊषा नागरी
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लायी--
मधु-मुकुल-नवल-रस-गागरी ।
अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये--
तू अब तक सोयी है आली !
आँखों में भरे विहाग री !

मधु ऋतु

अरे आ गई है भूली सी--
यह मधु-ऋतु दो दिन को,
छोटी सी कुटिया मैं रच दूँ
नई व्यथा साथिन को !
वसुधा नीचे ऊपर नभ हो,
नीड़ अलग सब से हो,
झाड़-खंड के चिर पतझड़ में
भागो सूखे तिनको !
आशा से अंकुर झूलेंगे,
पल्लव पुलकित होंगे,
मेरे किसलय का लघु भव यह,
आह, खलेगा किनको ?

सिहर भरी कँपती आवेंगीं
मलयानिल की लहरें,
चुम्बन लेकर और जगाकर—
मानस नयन नलिन को।
जवा कुसुम सी उषा खिलेगी
मेरी लघु प्राची में,
हँसी भरे उस अरुण अधर का
राग रँगेगा दिन को।
अन्धकार का जलधि लाँघ कर
आवेंगीं शशि-किरनें,
अन्तरिक्ष छिड़केगा कन कन
निशि में मधुर तुहिन को।
इस एकान्त सृजन में कोई
कुछ बाधा मत डालो,
जो कुछ अपने सुन्दर से है,
दे देने दो इनको।

वरुणा की कछार
(मूलगन्ध कुटी विहार के उपलक्ष्य में)

अरी वरुणा की शांत कछार।
तपस्वी के विराग की प्यार !
सतत व्याकुलता के विश्राम
अरे ऋषियों के कानन-कुंज !
जगत नश्वरता के लघु त्राण
लता, पादप, सुमनों के पुंज।

तुम्हारी कुटियों में चुपचाप
चल रहा था उज्ज्वल व्यापार।
स्वर्ग की वसुधा से शुचि संधि,
गूँजता था जिसमें संसार।

अरी वरुणा की शान्त कछार।
तपस्वी के विराग की प्यार।

तुम्हारे कुंजों में तल्लीन
दर्शनों के होते थे वाद।
देवताओं के प्रादुर्भाव,
स्वर्ग के स्वप्नों के संवाद।

स्निग्ध तरु की छाया में बैठ,
परिषदें करती थीं सुविचार–
भाग कितना लेगा मस्तिष्क–
हृदय का कितना है अधिकार ?

✓अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !

छोड़ कर पार्थिव भोग विभूति
प्रेयसी का दुर्लभ वह प्यार,
पिता का वक्ष भरा वात्सल्य,
पुत्र का शैशव-सुलभ दुलार,

दुःख का करके सत्य निदान,
प्राणियों का करने उद्धार,
सुनाने आरण्यक संवाद,
तथागत आया तेरे द्वार।

अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !
मुक्ति-जल की वह शीतल धार
जगत की ज्वाला करती शांत ।
तिमिर का हरने को दुख भार,
तेज अमिताभ अलौकिक कांत,
देव-कर से पीड़ित विक्षुब्ध
प्राणियों से कह उठा पुकार—
तोड़ सकते हो तुम भव-बन्ध,
तुम्हें है यह पूरा अधिकार ।
अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !
छोड़ कर जीवन के अतिवाद,
मध्य पथ से लो सुगति सुधार :
दुःख का समुदय, उसका नाश,
तुम्हारे कर्मों का व्यापार ।
विश्व मानवता का जयघोष,
यहीं पर हुआ जलद-स्वर-मन्द्र ।
मिला था वह पावन आदेश,
आज भी साक्षी हैं रवि-चन्द्र ।
अरी वरुणा की शान्त कछार !
तपस्वी के विराग की प्यार !
तुम्हारा वह अभिनन्दन दिव्य,
और उस यश का विमल प्रचार,

सकल वसुधा को दे सन्देश,
धन्य होता है बारम्बार ।
आज कितनी शताब्दियों बाद,
उठी ध्वंसों में यह झंकार ।
प्रतिध्वनि जिसकी सुने दिगंत,
विश्व वाणी का बने विहार ।

('लहर' से)

भावी शिशु के स्वागत में

"मैंने तो एक बनाया है
चल कर देखो मेरा कुटीर"
यों कह कर श्रद्धा हाथ पकड़
मनु को ले चली वहीं अधीर ।
उस गुफा समीप पुआलों की
छाजन छोटी-सी शान्ति-पुंज,
कोमल लतिकाओं की डालें
मिल सघन बनाती जहाँ कुंज ।
थे वातायन भी कटे हुए
प्राचीर पर्णमय रचित शुभ्र,
आवें क्षण भर तो चले जायें,
रुक जायें कहीं न समीर, अभ्र ।
उसमें था झूला पड़ा हुआ
वेतसी लता का सुरुचि-पूर्ण,
बिछ रहा धरातल पर चिकना
सुमनों का कोमल सुरभि-चूर्ण ।

कितनी मीठी अभिलाषाएँ,
उसमें चुपके से रहीं घूम ?
कितने मंगल के मधुर गान
उसके कोने को रहे चूम !
मनु देख रहे थे चकित नया
वह गृह-लक्ष्मी का गृह-विधान ?
पर कुछ अच्छा सा नहीं लगा
"यह क्यों किसका सुख साभिमान !"
चुप थे, पर श्रद्धा ही बोली
"देखो यह तो बन गया नीड़,
पर इसमें कलरव करने को
आकुल न हो रही अभी भीड़।
तुम दूर चले जाते हो जब
तब लेकर तकली यहाँ बैठ,
मैं उसे फिराती रहती हूँ
अपनी निर्जनता बीच पैठ,
मैं बैठी गाती हूँ तकली के
प्रतिवर्त्तन में स्वर-विभोर——
'चल री तकली धीरे-धीरे
प्रिय गये खेलने को अहेर।
जीवन का कोमल तंतु बढ़े
तेरी ही मंजुलता समान,
चिर नग्न प्राण उनमें लिपटें,
सुन्दरता का कुछ बढ़े मान।

किरनों सी तू बुन दे उज्ज्वल
मेरे मधु जीवन का प्रभात;
जिसमें निर्वसना प्रकृति सरल
ढँक ले प्रकाश से नवल गात।
वासना-भरी उन आँखों पर
आवरण डाल दे कांतिमान,
जिसमें सौन्दर्य निखर आवे
लतिका में फुल्ल कुसुम-समान।'
अब वह आगन्तुक गुफा बीच
पशु-सा न रहे निर्वसन नग्न,
अपने अभाव की जड़ता में
वह रह न सकेगा कभी मग्न।
सूना न रहेगा यह मेरा
लघु विश्व कभी जब रहोगे न;
मैं उसके लिए बिछाऊँगी
फूलों के रस का मृदुल फेन।
झूले पर उसे झुलाऊँगी
दुलरा कर लूँगी वदन चूम,
मेरी छाती से लिपटा इस
घाटी में लेगा सहज घूम।
वह आवेगा मृदु मलयज-सा
लहराता अपने मसृण बाल,
उसके अधरों से फैलेगी
नव मधुमय स्मिति-लतिका-प्रवाल।

अपनी मीठी रसना से वह
बोलेगा ऐसा मधुर बोल,
मेरी पीड़ा पर छिड़केगा
जो कुसुम धूलि मकरंद घोल।
मेरी आँखों का सब पानी
तब बन जायेगा अमृत स्निग्ध,
उन निर्विकार नयनों में जब
देखूँगी अपना चित्र मुग्ध।"

('कामायनी' से)

प्रयाण गीत

हिमाद्रि तुंग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती--
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला
स्वतंत्रता पुकारती--
"अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है--बढ़े चलो, बढ़े चलो!
असंख्य कीर्ति - रश्मियां,
विकीर्ण दिव्य दाह-सी।
सपूत मातृभूमि के--
रुको न शूर साहसी!
अराति सैन्य सिन्धु में--सुवाडवाग्नि से जलो,
प्रवीर हो जयी बनो--बढ़े चलो, बढ़े चलो।

('चन्द्रगुप्त' से)

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. 'वरुणा की कछार' शीर्षक कविता का सारांश लिखिए।
२. भावी शिशु की प्रतीक्षा करती हुई श्रद्धा के मनोभावों का अंकन कीजिए।
३. 'प्रसाद' के काव्य की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

किसी ने सुनाया यह
वीर-जनमोहन, अति
दुर्जय संग्राम-राग
फाग था खेला रण,
बारहों महीनों में।
शेरों की माँद में।
आया है आज स्यार—
जागो फिर एक वार !
सत् श्री अकाल,
भाल-अनल धक धक कर जला,
भस्म हो गया था काल,
तीनों गुण ताप-त्रय
अभय हो गये थे तुम,
मृत्युंजय व्योमकेश के समान,
अमृत-सन्तान ! तीव्र
भेदकर सप्तावरण-मरण-लोक,
शोकहारी ! पहुँचे थे वहां,
जहां आसन है सहस्रार—
जागो फिर एक वार !
सिंही की गोद से छीनता है शिशु कौन
मौन भी क्या रहती वह रहते प्राण
रे अजान,
एक मेषमाता ही
रहती है निर्निमेष—

दुर्बल वह--
छिनती संतान जब,
जन्म पर अपने अभिशप्त
तप्त आँसू बहाती है।
किन्तु क्या ?
योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं,
गीता है, गीता है,
स्मरण करो बार-बार--
जागो फिर एक बार !
पशु नहीं, वीर तुम,
समर-शूर, क्रूर नहीं,
कालचक्र में हो दबे,
आज तुम राजकुँवर,
समर सरताज !
मुक्त हो सदा ही तुम,
बाधा-विहीन-बन्ध छन्द ज्यों,
डूबे आनन्द से सच्चिदानन्द-रूप।
महा-मंत्र ऋषियों का
अणुओं परमाणुओं में फूँका हुआ,
"तुम हो महान्,
तुम सदा हो महान्,
है नश्वर यह दीनभाव,
कायरता, कामपरता,

ब्रह्म हो तुम,
पदरज भर भी है नहीं
पूरा यह विश्व भार"

जागो फिर एक वार !

सन्ध्या-सुन्दरी

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे ।
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर,—–
किन्तु जरा गंभीर—–नहीं है उनमें हास-विलास ।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले-काले बालों से
हृदयराज की रानी का वह करता है अभिषेक ।
अलसता की सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह,
छाँह सी अम्बर-पथ से चली ।
नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग-आलाप,
नूपुरों में भी रुनझुन रुनझुन रुनझुन नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा "चुप, चुप, चुप,"
है गूँज रहा सब कहीं—
व्योम मण्डल में—जगतीतल में—

सोती शान्त सरोवर पर उस अमल कमलिनी दल में—
सौन्दर्य-गर्विता सरिता के अति विस्तृत वक्षस्थल में—
धीर वीर गंभीर शिखर पर हिमगिरि-अटल-अचल में
उत्ताल-तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन-जलधि प्रवल में—
क्षिति में—जल में—नभ में—अनिल—अनल में—
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द सा "चुप, चुप, चुप"
है गूँज रहा सब कहीं—
और क्या है ? कुछ नहीं ।
मदिरा की वह नदी वहाती आती,
थके हुए जीवों को वह सस्नेह
प्याला एक पिलाती,
सुलाती उन्हें अंक पर अपने,
दिखलाती फिर विस्मृति के अगणित मीठे सपने,
अर्धरात्रि की निश्चलता में हो जाती जब लीन,
कवि का बढ़ जाता अनुराग,
विरहाकुल कमनीय कंठ से
आप निकल पड़ता तब एक विहाग ।

भिक्षुक

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता ।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह-फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता ।

साथ दो बच्चे भी सदा हाथ फैलाये,
बायें से वे मलते हुए पेट चलते हैं,
और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाये।
भूख से सूख ओंठ जब जाते,
दाता-भाग्य-विधाता से क्या पाते?
घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते।
चाट रहे हैं जूठी पत्तल कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी हैं अड़े हुए।

('अपरा' से)

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. 'जागो फिर एक बार' शीर्षक कविता का भाव स्पष्ट कीजिए।
२. 'निराला' की इस संग्रह में उद्धृत कविताओं में से किसे आप सर्वाधिक पसन्द करते हैं, और क्यों?
३. 'निराला' के काव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

सुमित्रानन्दन पंत

भाव, भाषा और शैली सभी की दृष्टियों से हिन्दी के सुकुमारतम कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त का जन्म शोभामयी प्रकृति के सुकुमार अंचल—अल्मोड़े—में १९०१ ई० में हुआ। प्रकृति और मानव के सौन्दर्य के प्रति एक अबोध शिशु के औत्सुक्य और आश्चर्य का भाव लेकर पन्त जी ने कविता की भूमि पर पदार्पण किया, और शीघ्र ही अपने सरल, सौम्य और भोले व्यक्तित्व के कारण नवयुवक साहित्यकारों के एक विशाल समूह को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। अभिव्यक्ति की सुबोध स्पष्टता के कारण छायावादी कवियों में जितनी लोकप्रियता पन्त जी को प्राप्त हुई, उतनी किसी और कवि को नहीं हो सकी है।

खड़ी बोली को, जो कुछ समय पहले तक कविता के लिए अनुपयुक्त समझी जाती थी, उसके काव्योचित मधुरतम रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय कवि—श्री सुमित्रानन्दन पन्त को ही है। "उन्होंने शब्दों की प्रकृति, उनकी अर्थ-बोधन क्षमता, उनके अर्थों के भेदक पहलुओं की विशिष्टता, छंदों की प्रकृति, तुक और ताल का महत्व आदि को समझा था, और समझाने के बाद काव्य में प्रयोग किया था।"

(डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी)

कवि की कल्पना ने पवित्रता की महिमा से मंडित जिस अनिन्द्य सौन्दर्य का दर्शन इस लोक में करना चाहा था, उसके स्वरूप को विकृत

करने वाली हैं आधुनिक युग की भौमिकता और यांत्रिकता। इनके विरोध में स्नेह, समत्व एवं सहृदयता के सरल, सुन्दर एवं सनातन आदर्शों की प्रतिष्ठा के लिए एक सशक्त सांस्कृतिक आन्दोलन की आवश्यकता कवि के चित्त को मथ रही थी। पन्त जी की 'पल्लव–गुंजन' के बाद की कृतियों में उनके इसी हृदयस्थ संघर्ष की अभि-व्यक्ति है।

पन्त जी की इधर की रचनाओं में उनके प्रारम्भिक बाल-कुतूहल का स्थान एक संयमित एवं गंभीर आध्यात्मिकता ने लिया है। वे महात्मा अरविन्द के तत्वदर्शन और महात्मा गाँधी के बलिदान से विशेष प्रभावित एवं चालित हुए हैं।

इस प्रकार हिन्दी के गौरव श्री सुमित्रानन्दन पन्त का व्यक्तित्व निरन्तर गतिशील एवं विकासोन्मुख है।

निष्ठुर-परिवर्तन

—१—

अहे निष्ठुर परिवर्तन !
तुम्हारा ही तांडव नर्तन
विश्व का करुण विवर्तन
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,
निखिल उत्थान, पतन !
अहे वासुकि सहस्र-फन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्ष-स्थल पर।
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत, फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर !
मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त, कंचुक कल्पान्तर !
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुंडल
दिङ्मंडल ।

—२—

अहे दुर्जेय विश्वजित्
नवाते शत सुरवर, नरनाथ
तुम्हारे इन्द्रासन तल माथ,
घूमते शत शत भाग्य अनाथ,
सतत रथ के चक्रों के साथ।
तुम नृशंस नृप-से जगती पर चढ़ अनियन्त्रित
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद-मर्दित,

नग्न नगर कर, भग्न भवन, प्रतिमाएं खंडित,
हर लेते हो विभव, कला, कौशल चिर संचित ।
आधि, व्याधि, बहु-वृष्टि, वात, उत्पात, अमंगल,
वह्नि, बाढ़, भूकम्प, तुम्हारे विपुल सैन्य दल;
अहे निरंकुश ! पदाघात से जिनके विह्वल
हिल हिल उठता हैं टलमल
पद - दलित धरातल !

—३—

जगत का अविरत हृत्कम्पन
तुम्हारा ही भय सूचन;
निखिल पलकों का मौन पतन
तुम्हारा ही आमन्त्रण !
विपुल वासना विकच विश्व का मानस शतदल
छान रहे तुम कुटिल काल-कृमि-से घुल पल-पल ;
तुम्हीं स्वेद सिंचित संसृति के स्वर्ण शस्य दल
दलमल देते, वर्षोपल बन, वांछित कृषि फल !
अये सतत ध्वनि स्पन्दित जगती का दिङ्मंडल
नैश गगन सा सकल
तुम्हारा ही समाधि स्थल !

—४—

काल का अकरुण भृकुटि विलास
तुम्हारा ही परिहास,
विश्व का अश्रुपूर्ण इतिहास !
तुम्हारा ही इतिहास !

एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयकर
समर छेड़ देता निसर्ग संसृति में निर्भर,
भूमि चूम जाते अभ्रध्वज सौध, श्रृंग वर,
नष्ट भ्रष्ट साम्राज्य-भूमि के मेघाडम्बर,
अये, एक रोमांच तुम्हारा दिग्भू कम्पन,
गिर गिर पड़ते भीत पक्षि-पोतों से उंडुगन,
आलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत कर शत शत फन,
मुग्ध भुजंगम-सा, इंगित पर करता नर्तन।
दिक् पिंजर में बद्ध गजाधिप सा विनतानन,
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन।

—५—

जगत की शत कातर चीत्कार
बेधतीं वधिर! तुम्हारे कान!
अश्रु-स्रोतों की अगणित धार
सींचती उर पाषाण!
अरे क्षण-क्षण सौ-सौ निःश्वास
छा रहे जगती का आकाश!
चतुर्दिक् घहर घहर आक्रान्ति
ग्रस्त करती सुख शान्ति;
हाय री दुर्बल भ्रान्ति?
कहाँ नश्वर जगती में शान्ति;
सृष्टि ही का तात्पर्य अशान्ति?
जगत अविरत जीवन संग्राम,
स्वप्न है यहाँ विराम!

एक सौ वर्ष, नगर उपवन,
एक सौ वर्ष, विजन वन !
——यही तो है असार संसार,
सृजन, सिंचन, संहार !
आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार,
रत्न दीपावलि, मन्त्रोच्चार,
उलूकों के कल भग्न विहार,
झिल्लियों की झनकार !
दिवस निशि का यह विश्व विशाल
मेघ मारुत का माया जाल ।

('पल्लव' से)

लहरों का गीत

अपने ही सुख से चिर चंचल
हम खिल खिल पड़ती हैं प्रतिफल,
जीवन के फेनिल मोती को
ले ले चल करतल में टलमल !
छू-छू मृदु मलयानिल रह रह
करता प्राणों को पुलकाकुल,
जीवन की लतिका में लहलह
विकसा इच्छा के नव नव दल !
सुन मधुर मरुत मुरली की ध्वनि
गृह पुलिन नाँघ, सुख से विह्वल
हम हुलस नृत्य करतीं हिलहिल
खस खस पड़ता उर से अंचल !
चिर-जन्म-मरण को हँस हँसकर
हम आलिंगन करतीं पल पल,

फिर फिर असीम से उठ-उठ कर
फिर फिर उसमें हो हो ओझल !

('ज्योत्स्ना' से)

सुख-दुख

मैं नहीं चाहता चिर-सुख,
मैं नहीं चाहता चिर-दुख,
सुख-दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख ।
सुख-दुख के मधुर मिलन से ।
यह जीवन हो परिपूरन,
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन
जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव-जग में बँट जावें
दुख सुख से औ' सुख दुख से ।
अविरत दुख है उत्पीड़न,
अविरत सुख भी उत्पीड़न,
दुख-सुख की निशा-दिवा में
सोता-जगता जग जीवन ।
यह साँझ-उषा का आँगन,
आलिंगन विरह-मिलन का,
चिर हास-अश्रुमय आनन
रे इस मानव-जीवन का !

('गुंजन' से)

भारत-माता

भारत माता
ग्रामवासिनी ।
खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला सा आँचल,
गंगा यमुना में आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी ।
दैन्य जड़ित अपलक नत चितवन,
अधरों में चिर नीरव रोदन,
युग युग के तम से विषण्ण मन,
वह अपने घर में
प्रवासिनी ।
तीस कोटि संतान नग्नतन
अर्ध क्षुधित, शोषित, निरस्त्र जन,
मूढ़, असभ्य, अशिक्षित, निर्धन,
नत मस्तक
तरु तल निवासिनी ।
स्वर्ण शस्य पर-पद तल लुंठित,
धरती सा सहिष्णु मन कुंठित,
क्रंदन कंपित अधर मौन स्मित
राहु ग्रसित
शरदेन्दु हासिनी ।
चिन्तित भृकुटि क्षितिज तिमरांकित,
नमित नयन नभ बाष्पाच्छादित,

आनन श्री छाया शशि उपमित,
ज्ञान मूढ़
गीता प्रकाशिनी !
सफल आज उसका तप संयम
पिला अहिंसा स्तन्य सुधोपम,
हरती जन मन भय, भव तम भ्रम,
जग जननी
जीवन विकासिनी !

('ग्राम्या' से)

बापू

'किन तत्वों से गढ़ जाओगे तुम भावी मानव को ?
किस प्रकाश से भर जाओगे इस समरोन्मुख भव को ?
सत्य अहिंसा से आलोकित होगा मानव का मन ?
अमर प्रेम का मधुर स्वर्ग बन जावेगा जग जीवन ?
आत्मा की महिमा से मंडित होगी नव मानवता ?
प्रेम शक्ति से चिर निरस्त्र हो जावेगी पाशवता ?
बापू ! तुमसे सुन आत्मा का तेजराशि आह्वान ?
हँस उठते हैं रोम हर्ष से, पुलकित होते प्राण।
भूतवाद उस स्वर्ग के लिए है केवल सोपान,
जहां आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान !
नहीं जानता युग-विवर्त में होगा कितना जन क्षय !
पर मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय।
नव संस्कृति के दूत ! देवताओं का करने कार्य।
आत्मा के उद्धार के लिए आये तुम अनिवार्य ?

('युगवाणी' से)

अभ्यास के लिए प्रश्न

१, 'निष्ठुर परिवर्तन' शीर्षक कविता का सारांश अपने शब्दों में लिखिए।
२. कवि के सुख-दुख सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कीजिए।
३. सुमित्रानंदन पंत के काव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

महादेवी वर्मा

शब्द और तूलिका पर समान अधिकार रखने वाली आधुनिक युग की सर्वश्रेष्ठ हिन्दी कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा, एम० ए०, का जन्म फर्रुखाबाद में १९०७ ई० में हुआ। 'चाँद' की सम्पादिका के रूप में उन्होंने भारतीय नारी की समस्याओं पर अनेक दृष्टियों से विचार किया था, और प्रयाग महिला विद्यापीठ की अध्यक्षा के रूप में स्त्री जाति की सर्वांगीण उन्नति के लिए वे निरंतर सक्रिय हैं। उन्हें प्रकृति से एक ऐसा कोमल, संवेदनशील एवं परदुःख-कातर हृदय प्राप्त हुआ है, जिसने केवल उनकी कला को ही जीवंत नहीं बनाया, स्वयं उन्हें भी मानवता के श्रेष्ठ गुणों से युक्त एक आकर्षक व्यक्तित्व प्रदान किया है।

महादेवी वर्मा के काव्य में विरह-जन्य करुणा की मार्मिक अभि-व्यक्ति है। किसी चिरंतन प्रिय के वियोग की पीड़ा उन्हें सदा व्याकुल बनाए रखती है। अपनी प्रेम-साधना में वे इतनी तन्मय हैं कि प्रिय-पथ के शूल भी उन्हें प्यारे ही लगते हैं। प्रिय तक पहुँचने के मार्ग की कोई भी बाधा इतनी बड़ी नहीं है कि उन्हें उनके निश्चय से पराङ्मुख कर सके। विरह की वेदना ही अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर मधुयामिनी का आनद बन गई है। रहस्यवाद का इतना स्पष्ट और आद्यन्तव्यापक संकेत किसी अन्य आधुनिक कवि के काव्य में उपलब्ध नहीं है।

अनुभूतिमयी वेदना की इतनी तीव्र अभिव्यक्ति कर सकने पर भी महादेवी जी अपने शब्द-चयन और भाव-विन्यास में एक सजग शिल्पी की सतर्कता लेकर पाठक के सामने आती हैं। भावावेश ने उनके रचना-शिल्प को कभी भी अस्त-व्यस्त नहीं होने दिया है। संगीतमय समंजस भावना के कलापूर्ण हार में उनके शब्द मोती की तरह जड़े हुये प्रतीत होते हैं।

जायसी की प्रेम-पीड़ा, मीरा की तल्लीनता और नन्ददास का शब्द-शिल्प महादेवी जी के काव्य में एकत्र हो गये हैं।

गीत

—१—

वे मुस्काते फूल, नहीं—
जिनको आता है मुरझाना,
वे तारों के दीप, नहीं—
जिनको आता है बुझ जाना,
वे नीलम के मघ, नहीं—
जिनकी है घुल जाने की चाह,
वह अनन्त ऋतुराज, नहीं—
जिसने देखी जाने की राह !

वे सूने से नयन, नहीं—
जिनमें बनते आंसू-मोती,
वह प्राणों की सेज, नहीं—
जिनमें बेसुध पीड़ा सोती,
ऐसा तेरा लोक, वेदना,
नहीं, नहीं जिसमें अवसाद,
जलना जाना नहीं, नहीं—
जिसने जाना मिटने का स्वाद!
क्या अमरों का लोक मिलेगा,
तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार !

—२—

तुम सो जाओ मैं गाऊँ !
मुझको सोते युग बीते
तुमको यों लोरी गाते
अब आओ मैं पलकों में स्वप्नों से सेज बिछाऊँ !

प्रिय ! तेरे नभ मन्दिर के
मणि-दीपक बुझ-बुझ जाते;
जिनका कण-कण विद्युत् है मैं ऐसे प्राण जलाऊँ !
क्यों जीवन के शूलों में
प्रतिक्षण आते-जाते हो ?
ठहरो सुकुमार ! गलाकर मोती पथ में फैलाऊँ !
पथ की रज में हैं अंकित
तेरे पदचिह्न अपरिचित;
मैं क्यों न इसे अंजन कर आँखों में आज बसाऊँ !
जब सौरभ फैलाता उर
तब स्मृति जलती है तेरी;
लोचन कर पानी पानी मैं क्यों न उसे सिंचवाऊँ !
इन फूलों में मिल जातीं
कलियाँ तेरी माला की;
मैं क्यों न इन्हीं काँटों का संचय जग को दे जाऊँ !
अपनी असीमता देखो
लघु दर्पण में पल भर तुम;
मैं क्यों न यहां क्षण-क्षण को धो-धो कर मुकुर बनाऊँ !
हँसने में छू जाते तुम
रोने में वह सुधि आती;
मैं क्यों न जगा अणु-अणु को हँसना रोना सिखलाऊँ ।

—४३—

प्रिय-पथ के यह शूल मुझे अलि प्यारे ही हैं
हीरक सी वह याद
बनेगा जीवन सोना,

जल जल तप तप किन्तु
खरा इसको है होना !
चल ज्वाला के देश जहाँ अंगारे ही हैं ।
तम-तमाल ने फूल
गिरा दिन-पलकें खोलीं ।
मैंने दुख में प्रथम
तभी सुख-मिश्री घोली !
ठहरें पल भर देव अश्रु यह खारे ही हैं ।
ओढ़े मेरी छाँह
रात देती उजियाला,
रजकण मृदु पद चूम
हुए मुकुलों की माला ।
मेरा चिर इतिहास चमकते तारे ही हैं ।
आकुलता ही आज
हो गई तन्मय राधा,
विरह बना आराध्य,
द्वैत क्या कैसी बाधा ।
खोना पाना हुआ जीत वे हारे ही हैं !

('यामा' से)

— ४ —

पंथ होने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला !
घेर ले छाया अमा बन,
आज कज्जल-अश्रुओं में रिमझिमा ले यह घिरा घन;

और होंगे नयन सूखे,
तिल बूझे औ' पलक रूखे,
आर्द्र चितवन में यहाँ
शत विद्युतों में दीप खेला !

अन्य होंगे चरण हारे,
और हैं जो लौटते, दे शूल को संकल्प सारे,
दुखव्रती निर्माण - उन्मद,
यह अमरता नापते पद
बाँध देंगे अंक-संसृति
से तिमिर में स्वर्ण-बेला !

दूसरी होगी कहानी
शून्य में जिसके मिटे स्वर, धूलि में खोई निशानी,
आज जिस पर प्रलय विस्मित,
मैं लगाती चल रही नित,
मोतियों की हाट औ'
चिनगारियों का एक मेला ।

हास का मधु-दूत, भेजो,
रोष की भ्रू-भंगिमा पतझार को चाहे सहेजो !
ले मिलेगा उर अचंचल,
वेदना-जल, स्वप्न-शतदल,
जान लो वह मिलन-एकाकी
विरह में है दुकेला !

–५–

यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो !
रजत शंख-घड़ियाल स्वर्ण वंशी-वीणा-स्वर,
गये आरती-वेला को शत शत लय से भर,
जब था कल कंठों का मेला,
विहँसे उपल तिमिर था खेला !
अब मन्दिर में इष्ट अकेला,
इसे अजिर का शून्य गलाने को गलने दो।
चरणों से चिह्नित अलिन्द की भूमि सुनहली,
प्रणत शिरों के अंक लिए चन्दन की दहली;
झरे सुमन, बिखरे अक्षत सित,
धूप अर्घ्य नैवेद्य अपरिमित
तम में सब होंगे अन्तर्हित,
सबकी अर्चित कथा इसी लौ में पलने दो !
पल के मनके फेर पुजारी-विश्व सो गया,
प्रतिध्वनि का इतिहास प्रस्तरों बीच खो गया,
सांसों की समाधि सी जीवन,
मसि-सागर सा पंथ गया बन,
रुका मुखर कण कण का स्पन्दन;
इस ज्वाला में प्राण-रूप फिर से ढलने दो !
झंझा है दिग्भ्रान्त रात की मूर्च्छा गहरी,
आज पुजारी बने ज्योति का यह लघु प्रहरी,

जब तक लौटे दिन की हलचल,
तब तक यह जागेगा प्रतिपल,
रेखाओं में भर आभा-जल,
दूत सांझ का इसे प्रभाती तक चलने दो !

('दीपशिखा' से)

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. 'पंथ होने दो अपरिचित ....' गीत के भाव को स्पष्ट कीजिए ।

२. महादेवी वर्मा के काव्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ।

रामधारीसिंह 'दिनकर'

राष्ट्रीय काव्य की परम्परा को समृद्ध करने वाले हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ कवि दिनकर का जन्म १६०८ ई० में हुआ। आप भारतीय संसद के सदस्य तथा विहार के एक विश्वविद्यालय के उपकुलपति रह चुके हैं।

दिनकर के काव्य में छायावाद युग की अवगुंठनमय सामाजिक चेतना लोक-मंगल की आकांक्षा से सिक्त होकर अपने नैसर्गिक रूप में अभिव्यक्त हुई है। दिनकर के हृदय में यदि एक ओर स्वदेश के प्रति अपार प्रेम है तो दूसरी ओर स्वदेश की सामाजिक विषमताओं के प्रति घोर विद्रोह का भाव भी वर्तमान है। उनके यौवन के तेज से प्रदीप्त व्यक्तित्व को अपने मन के भाव प्रकट करने के लिए लाक्षणिकता-प्रधान वक्रभंगिमायुक्त शैली तथा नये-नये प्रतीकों की भाषा की अपेक्षा नहीं है। वे तो सीधे ही हृदय से हृदय की बात कहते हैं। वे यौवन और सौंदर्य की कोमलता और माधुर्य से भी आकृष्ट होते हैं, किन्तु उनके प्रति उनकी कोई आसक्ति नहीं है। मौज और मस्ती, शौर्य और उत्साह उनके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग हैं। मुक्तक हो अथवा प्रवन्ध, मानव की महिमा उनका मुख्य वर्ण्य-विषय है। युग-पुरुष महात्मा गाँधी के जीवन-दर्शन और बलिदान ने उनकी काव्य-साधना को निरन्तर प्रेरणा प्रदान की है।

'दिनकर' की प्रतिभा अभी विकास के पथ पर है। राष्ट्रभाषा हिन्दी को अब भी उन्हें बहुत कुछ देना शेष है।

दानी-कर्ण

वीर कर्ण, विक्रमी, दान का अति अमोघ व्रतधारी,
पाल रहा था वहुत काल से एक पुण्य-प्रण भारी ।
रवि-पूजन के समय सामने जो याचक आता था,
मुँह माँगा वह दान कर्ण से अनायास पाता था ॥१॥

थी विश्रुत यह बात, कर्ण गुणवान और ज्ञानी हैं,
दीनों के अवलम्ब, जगत के सर्वश्रेष्ठ दानी हैं।
जाकर उनसे कहो, पड़ी जिस पर जैसी विपदा हो,
गो, धरती, गज-वाजि माँग लो, जो जितना भी चाहो ॥२॥

'नाहीं' सुनी कहां, किसने, कब, इस दानी के मुख से,
धन की कौन बिसात ? प्राण भी दे सकते वे सुख से ।
और दान देने में वे कितने विनम्र रहते हैं ।
दीन याचकों से भी कैसे मधुर वचन कहते हैं ? ॥३॥

करते यों सत्कार कि मानों हम हों नहीं भिखारी,
वरन, मांगते जो कुछ उसके न्यायसिद्ध अधिकारी ।
और उमड़ती है प्रसन्न दृग में कैसी जलधारा,
मानो सौंप रहे हों हमको ही वे न्यास हमारा ॥४॥

फहर रही थी मुक्त चतुर्दिक् यश की विमल पताका,
कर्ण नाम पड़ गया दान की अतुलनीय महिमा का ।
श्रद्धा-सहित नमन करते सुन नाम देश के ज्ञानी,
अपना भाग्य समझ भजते थे उसे भाग्यहत प्राणी ॥५॥

तब कहते हैं, एक बार हट कर प्रत्यक्ष समर से,
किया नियति ने वार कर्ण पर छिपकर पुण्य-विवर से ।
व्रत का निकष दान था, अबकी चढ़ी निकष पर काया,
कठिन मूल्य माँगने सामने भाग्य देह धर आया ॥६॥

एक दिवस जब छोड़ रहे थे दिनमणि मध्य गगन को,
कर्ण जाह्नवी तीर खड़ा था मुद्रित किये नयन को,
कटि तट डूवा हुआ सलिल में, किसी ध्यान में रत-सा,
अम्बुधि ने आकटक निमज्जित कनक-खचित पर्वत-सा ॥७॥
हँसती थीं रश्मियाँ रजत से भरकर वारि विमल को,
हो उठती थीं स्वयं स्वर्ण छू कवच और कुंडल को।
किरण-सुधा पी कमल मोद में भरकर दमक रहा था,
कदली के चिकने पातों पर पारद चमक रहा था ॥८॥
विहग लता वीरुध-वितान में तट पर चहक रहे थे,
धूप, दीप, कर्पूर, फूल सब मिलकर महक रहे थे,
पूरी कर पूजा-उपासना ध्यान कर्ण ने खोला,
इतने में ऊपर तट पर खर-पात कहीं कुछ डोला ॥९॥
कहा कर्ण ने कौन उधर है ? बन्धु सामने आओ,
मैं प्रस्तुत हो चुका, स्वस्थ हो, निज आदेश सुनाओ,
अपनी पीड़ा कहो, कर्ण सबका विनीत अनुचर है,
यह विपन्न का सखा तुम्हारी सेवा में तत्पर है॥ १०॥
माँगो माँगो दान, अन्न या वसन धाम या धन दूँ ?
अपना छोटा राज्य या कि यह क्षणिक, क्षुद्र जीवन दूँ ?
मेघ भले लौटे उदास हो किसी रोज सागर से,
याचक हो सकते निराश पर नहीं कर्ण के घर से ॥११॥
मही डोलती और डोलता नभ में देव-निलय भी,
कभी-कभी डोलता समर में किंचित् वीर-हृदय भी,
डोले मूल अचल पर्वत का, या डोले ध्रुव तारा,
सब डोलें, पर नहीं डोल सकता है वचन हमारा ॥१२॥

भली-भाँति कस कर दाता को बोला नीच भिखारी,
धन्य-धन्य, राधेय, दान के अति अमोघ व्रतधारी।
ऐसा है औदार्य, तभी तो कहता प्रति याचक है,
महाराज का वचन सदा सर्वत्र क्रियावाचक है ।।१३।।

मैं सब कुछ पा गया प्राप्त कर वचन आपके मुख से,
अब तो मैं कुछ लिये बिना भी जा सकता हूँ सुख से,
क्योंकि माँगना है जो कुछ उसको कहते डरता हूँ,
और साथ ही, एक द्विधा का भी अनुभव करता हूँ ।।१४।।

कहीं आप दे सके नहीं जो कुछ मैं धन मागूँगा,
मैं तो भला किसी विधि अपनी अभिलाषा त्यागूँगा,
किन्तु आपकी कीर्ति-चांदनी फीकी हो जायेगी,
निष्कलंक विधु कहां दूसरा फिर वसुधा पायेगी ।।१५।।

है सुकर्म क्या संकट में डालना मनस्वी नर को ?
प्रण से डिगा आपको दूंगा क्या उत्तर जग भर को ?
सब कोसेंगे मुझे कि मैंने पुण्य मही का लूटा,
मेरे ही कारण अभंग प्रण महाराज का टूटा ।।१६।।

अतः विदा दें मुझे, खुशी से मैं वापस जाता हूं।
बोल उठा राधेय, आपको मैं अद्भुत पाता हूँ।
सुर हैं या कि यक्ष हैं अथवा हरि के मायाचर हैं,
समझ नहीं पाता कि आप नर हैं या योनि इतर हैं ।।१७।।

भला कौन सी वस्तु आप मुझ नश्वर से माँगेंगे,
जिसे नहीं पाकर निराश हो अभिलाषा त्यागेंगे।
गो, धरती, धन, धाम, वस्तु जितनी चाहें दिलवा दूँ,
इच्छा हो तो शीश काटकर पद पर यहीं चढ़ा दूं ।।१८।।

या यदि साथ लिया चाहें जीवित, सदेह मुझको ही,
तो भी वचन तोड़कर हूँगा नहीं विप्र का द्रोही।
चलिए, साथ चलूँगा मैं साकल्य आपका ढोते,
सारी आयु बिता दूँगा चरणों को धोते-धोते ॥१६॥

वचन माँग कर नहीं माँगना दान बड़ा अद्भुत है,
कौन वस्तु है जिसे न दे सकता राधा का सुत है ?
विप्रदेव ! माँगिए छोड़ संकोच वस्तु मनचाही,
मरूँ अयश की मृत्यु करूँ यदि एक बार भी नाहीं ॥२०॥

सहम गया सुन शपथ कर्ण की, हृदय विप्र का डोला,
नयन झुकाये हुए भिक्षु साहस समेट कर बोला,
धन की लेकर भीख नहीं मैं घर भरने आया हूँ,
और नहीं नृप को अपना सेवक करने आया हूँ ॥२१॥

यह कुछ मुझको नहीं चाहिए, देव धर्म को बल दें।
देना हो तो मुझे कृपा कर कवच और कुंडल दें।
कवच और कुंडल ! विद्युत् छू गई कर्ण के तन को,
पर कुछ सोच रहस्य कहा उसने गंभीर कर मन को ॥२२॥

समझा, तो यह और न कोई, आप स्वयं सुरपति हैं,
देने को आये प्रसन्न हो तप में नई प्रगति हैं।
धन्य हमारा सुयश आपको खींच मही पर लाया,
स्वर्ग भीख माँगने आज, सच ही, मिट्टी पर आया ॥२३॥

क्षमा कीजिए, इस रहस्य को तुरत न जान सका मैं।
छिप कर आये आप, नहीं इससे पहचान सका मैं।
दीन विप्र ही समझ कहा, धन, धाम, धरा लेने को,
था क्या मेरे पास अन्यथा सुरपति को देने को ? ॥२४॥

केवल गन्ध जिन्हें प्रिय, उनको स्थूल मनुज क्या देगा ?
और व्योमवासी मिट्टी से दान भला क्या लेगा ?
फिर भी देवराज भिक्षुक बनकर यदि हाथ पसारें ?
जो भी हो, पर इस सुयोग को हम क्यों अशुभ विचारें ॥२५॥

अतः आपने जो मांगा है, दान वही मैं दूँगा,
शिव-दधीचि की पंक्ति छोड़कर जग में अयश न लूँगा।
पर कहता हूँ मुझे बना निस्त्राण छोड़ते हैं क्यों ?
कवच और कुंडल ले करके प्राण छोड़ते हैं क्यों ॥२६॥

यह, शायद, इसलिए कि अर्जुन जिये, आप सुख लूटें,
व्यर्थ न उसके शर अमोघ मुझ पर टकरा कर टूटें !
उधर करें बहु भाँति पार्थ की स्वयं कृष्ण रखवाली,
और इधर मैं लडूँ लिए यह देह कवच से खाली ॥२७॥

देवराज ! हम जिसे जीत सकते न बाहु के बल से,
क्या है उचित उसे मारें हम न्याय छोड़कर छल से ?
हार-जीत क्या चीज ? वीरता की पहचान समर है,
सच्चाई पर कभी हार कर भी न हारता नर है ॥२८॥

और पार्थ यदि बिना लड़े ही जय के लिए विकल है,
तो कहता हूँ, इस जय का भी एक उपाय सरल है।
कहिए उसे, मोम की मेरी एक मूर्ति बनवाये,
और काटकर उसे, जगत में कर्णजयी कहलाये ॥२९॥

जीत सकेगा मुझे नहीं वह और किसी विधि रण में,
कर्ण-विजय की आस तड़प कर रह जायेगी मन में।
जीते जूझ समर वीरों ने सदा बाहु के बल से,
मुझ छोड़ रक्षित जन्मा था कौन कवच कुंडल से ॥३०॥

मैं ही था अपवाद, आज वह भी विभेद हरता हूँ,
कवच छोड़ अपना शरीर सबके समान करता हूँ ।
अच्छा किया कि आप मुझे समतल पर लाने आये,
हर तनुत्र दैवीय मनुज सामान्य बनाने आये ॥३१॥
अब न कहेगा जगत, कर्ण को ईश्वरीय भी बल था,
जीता वह इसलिए कि उसके पास कवच-कुंडल था ।
महाराज ! किस्मत ने मेरी की न कौन अवहेला ?
किस आपत्ति गर्त में उसने मुझको नहीं ढकेला ? ॥३२॥
जन्मा जाने कहाँ, पला पद-दलित सूत के कुल में,
परिभव सहता रहा विफल प्रोत्साहन हित व्याकुल मैं ।
द्रोणदेव से हो निराश बन में भृगुपति तक धाया,
बड़ी भक्ति की, पर, बदले में शाप भयानक पाया ॥३३॥
और दान, जिसके कारण ही हुआ ख्यात मैं जग में,
आया है बन विघ्न सामने आज विजय के मग में ।
ब्रह्मा के हित उचित मुझे क्या इस प्रकार छलना था ?
हवन डालते हुए यज्ञ में मुझको ही जलना था ॥३४॥
सबको मिली स्नेह की छाया, नई-नई सुविधाएँ,
नियति भेजती रही सदा पर मेरे हित विपदाएँ,
मन ही मन सोचता रहा हूँ, यह रहस्य भी क्या है,
खोज-खोज घेरती मुझी को क्यों बाधा-विपदा है ? ॥३५॥
और कहें यदि पूर्व जन्म के पापों का यह फल है,
तो फिर विधि ने दिया मुझे क्यों कवच और कुंडल है ?
समझ नहीं पड़ती, विरंचि की बड़ी जटिल है माया,
सब कुछ पाकर भी मैंने यह भाग्य दोष क्यों पाया ? ॥३६॥

जिससे मिलता नहीं सिद्ध फल मुझे किसी भी व्रत का,
उलटा हो जाता प्रभाव मुझ पर आ धर्म सुगत का ।
गंगा में ले जन्म, वारि गंगा का पी न सका मैं,
किये सदा सत्कर्म, छोड़ चिन्ता पर जी न सका मैं ।।३७।।

जाने क्या मेरी रचना में था उद्देश्य प्रकृति का ?
मुझे वना आगार शूरता का, करुणा का, धृति का
देवोपम गुण सभी दान कर, जाने क्या करने को
दिया भेज भू पर केवल बाधाओं से लड़ने को ।।३८।।

फिर कहता हूँ, नहीं व्यर्थ राधेय यहाँ आया है,
एक नया संदेश विश्व के हित वह भी लाया है ।
स्यात् उसे भी नया पाठ मनुजों को सिखलाना है,
जीवन-जय के लिए कहीं कुछ करतब दिखलाना है ।।३९।।

वह करतव है यह कि शूर जो चाहे, कर सकता है,
नियति-भाल पर पुरुष पाँव निज बल से धर सकता है ।
वह करतव है यह कि शक्ति बसती न वंश या कुल में,
बसती है वह सदा वीर पुरुषों के वक्ष पृथुल में ।।४०।।

वह करतव है यह कि विश्व ही चाहे रिपु हो जाये,
दगा धर्म दे और पुण्य चाहे ज्वाला बरसाये ।
पर, मनुष्य तब भी न कभी सतपथ से टल सकता है ।
बल से अंधड़ को ढकेल वह आगे चल सकता है ।।४१।।

वह करतव है यह कि युद्ध में मारो और मरो तुम,
पर, कुपंथ में कभी जीत के लिए— न पाँव धरो तुम ।
वह करतब है यह कि सत्य-पथ पर चाहे कट जाओ,
विजय-तिलक के लिए करों में कालिख पर न लगाओ ।।४२।।

देवराज ! छल, छद्म, स्वार्थ, कुछ भी न साथ लाया हूँ,
मैं केवल आदर्श एक उनका बनने आया हूँ ।
जिन्हें नहीं अवलम्ब दूसरा छोड़ बाहु के बल को,
धर्म छोड़ भजते न कभी जो किसी लोभ से छल को ॥४३॥
मैं उनका आदर्श, जिन्हें कुल का गौरव ताड़ेगा,
नीचवंश-जन्मा कहकर जिनको जग धिक्कारेगा ।
जो समाज की विषम वह्नि, में चारों ओर जलेंगे,
पग-पग पर झेलते हुए बाधा निःसीम चलेंगे ॥४४॥
मैं उनका आदर्श कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे,
पूछेगा जग, किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे ।
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा,
मन में लिए उमंग जिन्हें चिर काल कलपना होगा ॥४५॥
मैं उनका आदर्श, किन्तु जो तनिक न घबरायेंगे,
निज चरित्रबल से समाज में पद विशिष्ट पायेंगे ।
सिंहासन ही नहीं, स्वर्ग भी जिन्हें देख नत होगा,
धर्महेतु धन, धाम लुटा देना जिसका व्रत होगा ॥४६॥
श्रम से नहीं विमुख होंगे जो दुख से नहीं डरेंगे ।
सुख के लिए पाप से जो नर सन्धि न कभी करेंगे ।
कर्ण-धर्म होगा धरती पर बलि से नहीं मुकरना,
जीना जिस अप्रतिम तेज से, उसी शान से मरना ॥४७॥
भुज को छोड़ न मुझे सहारा किसी और संबल का,
बड़ा भरोसा था लेकिन इस कवच और कुण्डल का ।
पर उससे भी आज दूर सम्बन्ध किये लेता हूँ,
देवराज ! लीजिए खुशी से महादान देता हूँ ॥४८॥

यह लीजिए कर्ण का जीवन और जीत कुरुपति की,
कनक-रचित निःश्रेणि अनूपम निज सुत की उन्नति की।
हेतु पांडवों के भय का, परिणाम महाभारत का,
अन्तिम मूल्य किसी दानी जीवन के दारुण व्रत का ॥४९॥
जीवन देकर जय खरीदना, जग में यही चलन है,
विजय दान करता न प्राण को रखकर कोई जन है।
मगर प्राण रखकर प्रण अपना आज पालता हूँ मैं,
पूर्णाहुति के लिए विजय का हवन डालता हूँ मैं ॥५०॥
देवराज ! जीवन में आगे और कीर्ति क्या लूँगा ?
इससे बढ़कर दान अनूपम भला किसे, क्या दूँगा ?
अब जाकर कहिए कि पुत्र ! मैं वृथा नहीं आया हूँ,
अर्जुन ! तेरे लिए कर्ण से विजय माँग लाया हूँ ? ॥५१॥
एक विनय है और, आप लौटें जब अमरभुवन को,
दे दें यह सूचना सत्य की खातिर चतुरानन को।
"उद्वेलित जिसके निमित्त पृथ्वीतल का जन-जन है,
कुरुक्षेत्र में अभी शुरू भी हुआ नहीं वह रण है ॥५२॥
दो वीरों ने किन्तु, लिया कर आपस में निपटारा,
हुआ जयी राधेय और अर्जुन इस रण में हारा।
यह कह, उठा कृपाण कर्ण ने त्वचा छील क्षण भर में,
कवच और कुंडल उतार, धर दिया इन्द्र के कर में ॥५३॥
चकित, भीत चहचहा उठे कुंजों में विहग बिचारे,
दिशा सन्न रह गईं देख यह दृश्य भीति के मारे !
सह न सके आघात, सूर्य छिप गये सरक कर घन में,
साधु, साधु की गिरा मन्द्र गूँजी गंभीर गगन में ॥५४॥

अपना कृत्य विचार, कर्ण का करतब देख निराला,
देवराज का मुखमंडल पड़ गया ग्लानि से काला।
विलग्न कवच को लिए किसी चिन्ता में पगे हुए से,
ज्यों के त्यों रह गये इन्द्र जड़ता में ठगे हुए से ॥५५॥

('रश्मिरथी' से)

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. पठित अंश के आधार पर कर्ण का चरित्रांकन कीजिए।
२. कवि कर्ण के चरित्र-चित्रण द्वारा विश्व को कौन-सा संदेश देना चाहता है ?
३. 'दिनकर' के काव्य की विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।

(५) नाम—ईश्वर का नाम। काम—कामनाएँ। रवि—(रवि) सूर्य। रजनी—रात्रि। ठाम—स्थान। आब—चमक ("आब" फारसी का शब्द है और स्त्रीलिंग में प्रयुक्त है। पाहन—पत्थर, पत्थर की मूर्ति से तात्पर्य है। देहुरा—देवालय, मन्दिर। दस द्वारे—दस इन्द्रियाँ। जोति—(ज्योति) ब्रह्म की ज्योति। मुआ—मर गया। पंडित—ज्ञानी।

शब्द—दुलहनीं—विवाहिता वधुएँ (आत्मायें)। मंगलचार—मंगलगीत। पंचतत्त—(पंचतत्त्व) शरीर के संयोजक पाँच तत्व (क्षिति, जल, अग्नि, गगन, समीर)। जीवन में माती—साधना आदि से परिपक्व आत्मा से तात्पर्य है। उचार—कहेंगे। धनि-धनि—धन्य-धन्य। सुर—देवता। कौतिक—उत्सव के दर्शनार्थ। पुरिष एक अविनाशी—नित्य परमात्मा।

(६) बाद—मत, तर्क। बदन्ते—कहते हैं। कह्याँ—कहने से। षांड—चीनी, शकर। गत—(गति) मोक्ष। दाझे—जल जाये। त्रिषा—प्यास। भूष—भूख। साधि—सिखाने से। परताप—(प्रताप) महत्व। बहुरि—फिर। जासी—जाओगे। नलिनी—कमलिनी (आत्मा)। जल—ब्रह्म का प्रतीक है। हेतु—प्रेम। उदिक—जल। (ब्रह्म) समान—समा गए। बकसहु—क्षमा करते हो। औगुण—(अवगुण) दोष।

(७) सहज समाधि—आत्मलीनता की, स्वभावगत स्थिति। गिरह—(गृह) बसे हुए स्थान। लेखौं—समझता हूँ। दूजा—द्वैत-भाव। सबद निरन्तर—अनाहत नाद। तारी—बेहोशी (समाधि)। उनमुनि—उदासीन, हठयोग की एक मुद्रा। रहनि—जीवन-पद्धति।

जायसी

गोरा-बादल युद्ध

(१०) मतै—विचार कर रहे हैं। गोरा—बादल का पिता। बादल—गोरा के पुत्र का नाम (इतिहास में इन दोनों का वर्णन

चाचा भतीजे के रूप में हुआ है पर जायसी ने कवि- -स्वातन्त्र्य के आधार पर इनका पिता-पुत्र के रूप में ही वर्णन किया है) । मत—निश्चय । भोरा—भूल-चूक । काँची--कच्ची । नौशावा--नौशावा नामक एक रानी, जिसके यहाँ सिकन्दर दूत बनकर गया था। उसने सिकन्दर को पहचान कर भी छोड़ दिया। किन्तु बाद में उसी सिकन्दर ने उसे बन्दिनी बनाकर अपने अधीन कर लिया। बाची--बची, बच पाई। इसकंदर--सिकन्दर। सोकित--(सो कत) वह क्यों। बँदेरी--अधीन, दासी। ससा--(शशा) खरगोश। आँटी--दाँव, अभिसन्धि, षड्यन्त्र। कंचन—सोना। भण्डा--पात्र। छर—छल। साजा—आयोजित किया। वर--वल। आँट—पूरा पड़ना। सँ—सौ। चंडोल--एक प्रकार की पालकी जिसे चार आदमी उठाते थे। सँजोहल—सुसज्जित। ओहार--आवरण, परदा। कँवल—कमल (पद्मावती का प्रतीक है)। वेली--वेलें (सखियों का प्रतीक है)। ओल—(ओल्ल) प्रतिभू, जमानत। सौंपना—सुपुर्दगी। अँकोरा—घूस। बिनवा—विनय करो। मोहि स्यो—मेरे पास। चितउर—चित्तौड़। किल्ली—कुंजी।

(११) जीउ—जीव या प्राण। फेरे फिरे न माथ—घूंस लेने वाला अपना मस्तक भी नहीं हिला सकता। सत्त—सत्य। बोरा—डुबाया। दरब--(द्रव्य) धन। हेरा—देखा। जावत—जितनी। खड़ी—खरी हुई। कबिलास—राजमहल। बंदि—बंधन। जोहार—प्रणाम। तुरंग--घोड़ा। जुगुति--(युक्ति) उपाय। बागा--(वल्गा) लगाम। जिउ ऊपर—प्राणों का दाँव लगाकर। गहन—ग्रहण।

(१२) चढ़ा—चढ़ाई की। साहि--शाह, बादशाह। गोहारी—पुकार। गोइ—गेंद। चौगान--फारसी भाषा में एक प्रकार का गेंद का खेल, जो अंग्रेजी खेल 'पोलो' के सदृश घोड़ों पर चढ़कर खेला जाता है। सौंह—सम्मुख। सों--से, साथ। हाल—कीर्ति। जो—यदि। संकरे—संकट में। मीचु—मृत्यु। आउ--आयु। भुंजी—भोग

जी। पूंजी--पूर्ण हो गई। जूझी--युद्ध करते हुए। जिन--नहीं, मत। बूझी--समझ कर। समदि--मिलकर, आलिंगन करके। पुरुष--यहाँ योद्धाओं से तात्पर्य है। गाजा--गर्जना की। चाव--उत्साह। आव--आ रही हैं। हाँका--ललकारा। साका--कीर्तिमान स्थापित करना, आतंक फैलाना। धौलागिरि--धवल पर्वत, हिमालय। सोहिल--अगस्त्य नक्षत्र। बिलाहीं--अदृश्य हो जायेंगी। डुंगवै--पहाड़ी, टीला। पाछे...राजा--राजा रत्नसेन को पहाड़ या टीले के पीछे रखकर। जमकातर ढाहौं--पाताल लोक के राजा महिरावण के यहाँ एक जमकातर थी जिसे हनुमान ने नष्ट किया था।

(१३) टोकौं--रोक दूंगा। बेंड़--आड़, अवरोध। ओनई--उमड़ती हुई। लाई--लग गई। देव--दैत्य। बादी--शत्रु। हरद्वानी--हरद्वान की तलवार प्रसिद्ध थी। सेल--बरछे। बीजु--बिजली। बानी--कान्ति, चमक। सोझ--सीधे। गाजा--वज्र। इन्दू--इन्द्र। उठौनी--आक्रमण। तुरंग--अश्व। बखतर--लौह-कवच। जमकात--यम की तलवार। भँवा--भ्रमण, चक्कर। सरग--स्वर्ग। अपसवा--उठकर भाग जाना। सरप--(सर्प) साँप। रोपा--जमाया। बगमेल--दूसरे के घोड़े के साथ बाग मिल कर चलना। अधर घर मारे--धड़ (कबन्ध) अधर में वार कर रहा है। निरारै--अलग-अलग।

(१४) भारत--महाभारत। जूझा--युद्ध करके समाप्त हो गए। बिदारै--विदीर्ण कर देता है। ठटा--समूह। करवारु--(करवाल) तलवार। माठ--घड़ा। मजीठ--एक प्रकार की लता। उसकी जड़ एवं शाखाओं को पीस कर बनाया हुआ लाल रंग। चाँचरि--खेल विशेष जो होली जलाने के पूर्व खेला जाता है। हस्ती--हाथी। धूका--भिड़ गया। रुहिर--(रुधिर) खून। भभूका--अंगारे के समान लाल। रतन--रत्नसेन। पदारथ--(पदार्थ) पद्मावती से तात्पर्य है। लेवा--लिया। जाजननदेव--कोई ऐतिहासिक वीर पुरुष।

धरावा—बँधाया। घिसिआवा—घसीट सकता है। मसि—स्याही, कलंक। रात—लाल, कलंक रहित।

(१५) सरजा—अलाउद्दीन का सर्वश्रेष्ठ वीर। बाजा—भिड़ गया। मीर-हमजा—हजरत मुहम्मद साहब के चाचा थे जिनकी वीरता की अनेक कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। अली—मोहम्मद साहब के चचाजात भाई और दामाद, मुसलमानों के चौथे खलीफा। ये वीरता के उपमान थे। लँधउर—रद देव—एक वीर राजा जिन्हें खिलजी ने पराजित किया था। वर बाँधे—हठ या प्रतिज्ञा करके सामने आये। अयूब—साधुता और धर्मपरायणता के साथ कष्ट-सहन के उपमान हैं। महामाल—महान मल्ल अथवा कोई क्षत्रिय वीर। नाँव अलोपे—यश छिपा दिया। तामा सालार—सालार मसऊद गाजी (गाजी मियाँ)। साँग—लोहे का छोटा भाला। वरियारु—बलवान। हुमुकि—जोर से, हुम् करके जोर लगाना। खेह—धूल। जनु परा निहाऊ—मानो लोहे का घन बजा हो। घाऊ—चोट। डाँडा—डंडा वा खड्ग। ओढ़न—ढाल। कूँड़—लोहे की बनी टोपी जो युद्ध में पहनी जाती है। गुरुज—(गुर्ज) गदा। सिंघ सदूरहिं—सिंह और शार्दूल के अर्थात् गोरा और सरजा के। बरिवंडा—बलवान। सदूर—(शार्दूल) सिंह। ठाँठर—ठठरी, अस्थि-पंजर। धमकि—दहल। फिरि गइ दीठि—आँखें पलट गईं, आँख उलटना मरण का सूचक। फिरा सँमारू—आंखों के सामने संसार न रह गया या आँखों के सामने ब्रह्माण्ड घूम गया।

(१६) बरी—बली। खेत—रणक्षेत्र। सुर पहुँचावा पान—देवताओं ने पान का वीड़ा अर्थात् स्वर्ग का निमन्त्रण दिया। नियरान—समीप पहुँच गया।

सूरदास

विनय

(१८) बन्दौं—वन्दना करता हूँ। पंगु—लँगड़ा। अविगत—अज्ञात। अगोचर—जो इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य न हो। आजु—आज,

अव्यय होने के कारण यद्यपि इस शब्द के उकारान्त होने की कोई आवश्यकता नहीं है पर व्रजभाषा के कवियों ने इसको प्रायः उकारान्त ही लिखा है। उघरि—उघड़ कर, नग्न होकर। कत—क्यों। बीरा—पान का बीड़ा, देवता के प्रसाद के रूप में भक्तों को मिलने वाले फल-फूल आदि।

(२०) चोलना—ढीला-ढाला कुर्ता। रसाल—रसमय, मधुर। भोयौ—आसक्त या भ्रमित। कटि—कमर। पखावज—मृदंग। काछि—वेश सजाकर। । अघनि—पापों से। पन—आयु के चार भागों में से कोई एक। तीनों पन—बचपन, यौवन, प्रौढ़ावस्था। अव—अर्थात् वृद्धावस्था। गीध—जटायु से तात्पर्य है। इसने सीता जी को छुड़ाने के लिए रावण से युद्ध कर प्राण त्याग किया था। रामचन्द्र जी ने अपने पिता के समान इसका दाह-संस्कार किया था। व्याध—वाल्मीकि से तात्पर्य है। ये पहले बहेलिया थे। पीछे सनकादि के उपदेश से जीव-हिंसा छोड़कर भगवद्-भजन करने लगे और भजन के प्रताप से महर्षि हो गए। गज—एक हाथी, जिसका पैर एक ग्राह ने पकड़ लिया था। अन्त में निराश होकर इसने भगवान का स्मरण किया। इसीलिए भगवान ने अपने सुदर्शन-चक्र से ग्राह को मार कर हाथी का उद्धार किया। गनिका—(गणिका) एक वेश्या से तात्पर्य है जिसने एक सुए का बच्चा खरीदकर पुत्रवत् पाला था। वह इसे नित्य 'राम-राम' पढ़ाया करती थी, फलतः राम नाम के प्रभाव से मरण के अनन्तर भव-बन्धन से मुक्त हो गयी। निरधार—निर्धारण, निर्णय।

बाललीला

(२१) नवनीत—मक्खन। घुटुरुनि—घुटनों के बल। चारु—सुन्दर। कपोल—गाल। लोल—चंचल, सुन्दर। गोरोचन—एक पीला सुगन्धित द्रव्य। केहरि—सिंह। कल्प—चार युगों की एक चौकड़ी होती हैं और एक हजार चौकड़ियों को कल्प कहा जाता है। पुराणों में इसी को ब्रह्मा का एक दिन कहा गया है। जुटली—जूड़ा। हर—शंकर। पाट—(पट्ट) रेशम (के धागे)।

फनिश——सर्प । खुनखुना——झुनझुना । जलज——कमल । स्वाति-सुत——मोती । नारि——(नारियाँ) स्त्रियाँ । त्रिपुरारि——शिव । अनंग——कामदेव । झझक्यौ——आशंकित हुआ । कजरी——काले रंग की गाय । पय——दूध । वैस——(वयस्) आयु ।

(२२) लढ़ै——प्यार से फुसला लिया । अँचवत——पीने पर । कच——केश । टकटोरत——टटोलते हैं । रढ़ै——मिथ्या बातें बनाती हैं । सुरभी——गाय । कुटिल——छद्मवेशी से तात्पर्य है । खिजायौ——चिढ़ाया है । जायौ——उत्पन्न किया है । रिस——क्रोध । खीजै——क्रुद्ध होती है । चबाई——चुगलखोर, निंदक । धूत——धूर्त । गोधन——पशु——सम्पत्ति । सौं——सौगन्ध ।

(२३) ख्याल परै——खेल-खेल में । सीके——छीका । जु——जो (यहाँ पर 'ज' का प्रयोग केवल पाद पूर्ति के लिए हुआ है) । कर——हाथ । साँटि——छड़ी । बिरंचि——ब्रह्मा । हौं——मैं । पिराई——दर्द करने लगते हैं । जौ——(जो) यदि । पत्याहि——विश्वास करती है । रिंगाइ——दौड़ाकर ।

संयोग

तऊ——तो भी, तिस पर भी । नंदलालहिं——कृष्ण को । व्रज-भाषा में 'हि' कर्म-कारक का चिह्न है । इसी प्रकार इससे 'दाउहिं', 'स्यामहिं', 'गुपालहिं' आदि शब्द निर्मित होते हैं । कनौड़े——कृतज्ञ । नार——ग्रीवा, गरदन ।

(२४) पौढ़ि——लेटकर । अधर——ओठ । सज्जा——शय्या । पल्लव——नवीन पत्ते, हाथों, पाँवों, ओठों तथा कानों की उपमा पल्लवों से दी जाती है । पलुटावति——दबवाती है । नासा-पुट——नथुने । डुलावति——हिलाती है । काकी——किसकी । खोरी——गली । ब्रज-तन——ब्रज की ओर । पौरी——ड्योढ़ी, चौखट । स्रवननि——कानों से । ढोटा——पुत्र । भुरइ——फुसला लिया । रसिक——रसिक स्वभाव के व्यक्ति । सीमान्त——सीमान्तक लम्बे, माँग । वंदन——सिंदूर । फरिया——स्त्रियों का लहँगे की तरह का झँगला । मधुकर——भ्रमर ।

(२५) तै—वह। नवल—नवीन। नागर—चतुर, गुणी।

वियोग

मधुवन—ब्रज-भूमि का वन विशेष। तर—नीचे। टेकि—पकड़ कर। थावर—(स्थावर) एक स्थान पर स्थित। अरु—और। जंगम—चलायमान। पुहुप—पुष्प। दवानल—(दावानल) वन में आप से आप बाँस आदि की रगड़ से उत्पन्न होने वाली आग। दृग—नेत्र। पनारे—नाला। सलिल—जल। परेखौ—खेद, दुःख। ऊधौ—(उद्धव) श्रीकृष्ण के सखा, भक्त, देवभाग के पुत्र। पावक—अग्नि। तूल—रुई। समीर—वायु। सजग—जागा हुआ।

(२६) बिलग—बुरा। अन्तरगति—अन्तर्मुखी साधना। बिलखानी—विलाप करने लगीं।

(२७) धौं—भला (संदेह का चिह्न) कमोरी—दूध, दही रखने का बड़ा बर्तन। पछोरी—सूप आदि से पछोरना। गाँसी—मिथ्या। आनि—आकर। अनंत—(अन्यत्र) दूसरी जगह। ठेली—ठुकराई हुई। छबीलौ—शोभाशाली। छँड़े—त्यागे, छोड़े।

(२८) बूझै—पता लगावे। सूझै—दिखाई देता है। अपरस—अप्रभावित। पुरइनि—कमल के पत्ते। नाहिन—यह दुहरा निषेध वाचक शब्द ब्रजभाषा में 'नहीं' के अर्थ में आता है। मंदिर अरध अवधि—आधा मकान (पाखा, पाखा से पाख, पाख से पक्ष जो १५ दिन का होता है) अर्थात् १५ दिन की अवधि। बदि—निश्चित करके। हरि अहार—सिंह का आहार (माँस, मांस से मास) अर्थात् महीना। ससिरिपु—दिन। सुर-रिपु—रात्रि। हर-रिपु—कामदेव। मघा पंचक—मघा नक्षत्र से पाँचवा नक्षत्र (चित्रा अर्थात् चित्त) नखत, बेद, ग्रह जोरि अर्ध करि—२७ नक्षत्र, ४ वेद, ९ ग्रह इनको जोड़कर ४० होता है और इसके आधे २० (बीस से विष) अर्थात् जहर। मींजैं—मलती हैं। हारिल की लकड़ी—(हारिल पक्षी के लिए यह कहा जाता है कि जीवन का सहारा

उड़ते समय भी वह अपने पंजे में लकड़ी या तिनका लिए रहता है और वृक्षादि पर बैठते समय भी उसे दबाए रहता है।) क्रम—कर्म। जकरी—झक लगना।

(२९) जोग—(योग) योग साधना। चकरी—लट्टू (भ्रमित)। पुंजैं—समूह। ज्वाल—(ज्वाला) अग्नि की लपट। पान—पानी। घनसार—कपूर। दधि सुत—(उदधि सुत) चन्द्रमा। भुंजैं—भूनती हैं, जलाती है। मदन—कामदेव। लुंजैं—बिना हाथ-पैर का। जोवत—देखते हुए। छुंजैं—शून्य (पथरा गई)। ग्रंथित—गूंथी हुई। वृन्द—समूह। वंक—तिरछी।

(३०) दुहुनि को—दोनों का। दीसति—दिखाई देती है। भृंग—एक तरह का पंख वाला कीड़ा जो अन्य छोटे-छोटे कीड़ों को पकड़कर अपनी बाँवी में रखता है, और उसके चारों ओर घूम-घूम कर इतना भनभनाता है कि उसके प्रभाव से वे छोटे-छोटे कीड़े उसी की ध्वनि करन लगते हैं। राँचे—रंग गए। रई—रंग गई।

तुलसीदास

विनय

(३३) बंदन—(बन्दन) वन्दनीय। संकर—(शंकर) कल्याणकारी शिव। सुवन—पुत्र। भवानी—पार्वती। नंदन—आनन्दित करने वाले। संकर-सुवन ..... नंदन—गणेश जी शिव और पार्वती के पुत्र हैं और वह दोनों (शिव-पार्वती) को आनन्दित करने वाले हैं। देहली-दीपक अलंकार के द्वारा 'सुवन' शब्द के 'शंकर' और 'पार्वती' दोनों शब्दों में एक साथ सम्बन्ध स्थापित करने में ही अर्थ-गाम्भीर्य एवं काव्यत्व है। इसी प्रकार 'नंदन' का अर्थ पुत्र मानने से पुनरुक्ति दोष हो जाता है; अतः 'नंदन' का अर्थ 'आनन्दित करना' सार्थक है। विद्या वारिधि—विद्या के समुद्र। विधाता—पालन करने वाला, धारण करने वाला। मुद—आनन्द। मानस—मन। रावरो—आपका। नाह—(नाथ) पति। भामा—टूटी का

रही है। घरबात—घर का सामान। श्री—लक्ष्मी। सारदा—(शारदा) सरस्वती। सिहानी—ललचाती है। नाक—स्वर्ग। सँवारत—सजाते-सजाते। आयो नकवानी—नाकों दम आ गया। (मुहावरा)। व्यंग—कही हुई बात का सामान्य के अतिरिक्त कोई दूसरा ही अर्थ। बिधि—(विधि) ब्रह्मा। बर—(वर) श्रेष्ठ। जगतमातु—जगज्जननी पार्वती। गति—आशा, भरोसा। पैज—प्रतिज्ञा। पूजिआई—पूरी हो जाती है। कुलिस—(कुलिश) वज्र। पषान—(पाषाण) पत्थर। यह रेखा…पषान की—यह सिद्धान्त इतना पक्का और अमिट है जितनी पत्थर पर की लकीर। अघटित—असंभव। सुघट—संभव। विघट—बिगाड़ देने वाले। विरुदावलि—गुणावली। आन—अन्य। विमोचन—नष्ट करने वाले।

(३४) अंब—माता। मेरिओ—मेरी भी। द्याइबी—दिला दीजिएगा, यह शब्द बुंदेलखंडी है। चलाइ—छेड़कर। अघी—पापी। अघाइ—पूरी तरह। प्रभु दासी दास—राम की दासी तुलसी उनका दास (तुलसीदास)। बिगरिओ—बिगड़ी स्थिति भी। भव—संसार। अघ—पाप। श्रुति—वेद। चारो—चारों अर्थात् ऋक, साम, अथर्व और यजु। किधौं—अथवा। मृषा—असत्य। खग—पक्षी, जटायु से तात्पर्य है। पनवारो—पत्तल, यह शब्द बुन्देलखंडी है। निदेश—आज्ञा। गारो—प्रतिष्ठा, गौरव। मसक—मच्छर। विरंचि—ब्रह्मा। अछत—रखते हुए। चारो—(चारा) उपाय। त्रास—दुःख, भय।

(३५) अब लौं—अब तक। नसानी—करनी बिगड़ गई। नसैहौं—बिगाड़ूंगा। डसैहौं—बिछौना बिछाऊँगा। चिंतामनि—(चिन्तामणि) समस्त कामनाओं की पूर्ति करने वाली एक मणि। उर—हृदय। खसैहौं—गिराऊँगा। कसौटी—एक काले पत्थर का नाम है, जिस पर सोना कसा जाता है। कंचनहि—सोने को। पन—प्रण।

बाललीला

पगनि—पैरों से। निकैया—सुन्दरता। दलि तृन—तिनका तोड़कर, सुन्दर वस्तु को नजर न लगने के उपाय करके।

चलैया--बलाएँ लेना (मुहावरा है) किसी की मंगल कामना के लिए उसकी आपत्तियों को भी अपने ऊपर ले लेना। नटनि--नाचना। जुन्हैया--चाँदनी। लाहु--लाभ। रिपु दवन--शत्रुघ्न। अन्हवैया--स्नान करने वाले।

(३६) आनन्दकन्द--आनन्द के मूल। कुमुद--कुई। पानि--(पाणि) हाथ। मदन--कामदेव। सरसी--सरोवर। रूरीं--सुन्दर। मसि बुन्दा--काजल की बिन्दी, डिठौना। कुलही--बच्चों की एक प्रकार की टोपी। झँगूली--एक प्रकार का वस्त्र जो बच्चों को पहनाया जाता है। डिंभ--बालक। सुखमा (सुषमा) सौन्दर्य। हुलसी--उल्लसित।

(३७) बीथिन--गलियों में। पदत्रान--जूते। तून--तूणीर, तरकश।

धनुभंग

कामरिपुचाप--शिव-धनुष। निसान--नक्कारा। नगाड़ा। पिनाक--धनुष। पुरारि--शिव। राढ़--लड़ाई, युद्ध। चोखे--पैने, धारदार। नापे जोखे हैं--जाँच लिया है। बालिस--(बालिश) मूर्ख। कैधों--अथवा। तमकि--आवेश में। त्रिदोषे--बात, पित्त, कफ की प्रबलता से सनक में आ गए हैं।

(३८) सौंहैं--सामने। धोखे--बिजूका, पक्षियों या पशुओं को बिदकाने या डराने के लिए खेत में उल्टी टाँगी हुई हाँडी या आदमी की तरह का पुतला। पीन--मोटे। पाँवरनि--नीच व्यक्तियों ने। पीना--खली। पोखे हैं--पुष्ट किए हैं। कोकनद--लाल कमल। कोक गन--चकवा वृन्द। तोषे हैं--सन्तुष्ट हुए हैं। सिधाए--चले गए। पानही--जूते। सुचाली--सदाचारी। सुठि--अत्यन्त। आली--सखी (कौसल्या से तात्पर्य है)। सुमंगल बानी--शुभ वचन।

सीता का स्वरूप-वर्णन

मुकुत--(मुक्ता) मोती।

(३९) चम्पक--चम्पा (पुष्प का नाम)

भरद्वाज मुनि के आश्रम में भरत

पहर--तीन घंटे का समय। दिन रात में आठ पहर होते हैं। दोपहर १२ बजे दिन के समाप्त होता है। फिर ३ घंटे तक तीसरा पहर होता है। प्रवेसु--(प्रवेश) पदार्पण। झलका--छाले। झलकत--दिखाई पड़ते हैं। कोस-- कोश, कोष) कली। हिलोरें--तरंगें। आरत--अति दुःखी। सितासित--(सित + असित) सफेद और नीला (गंगा का जल सफेद है और यमुना का नीला जल है)। निरबान--(निर्वाण) मोक्ष। अनुदिन--प्रतिदिन। पबि--(पवि) बज्र।

(४०) वैखानस--वानप्रस्थ। बटु--ब्रह्मचारी। गृही--गृहस्थ। मूरतिमंत--साक्षात्। गिरा--वाणी। धूति--चलायमान करके, छल कर या ठग कर। राउ--राजा। सूला--शूल, कष्ट। कुचालि--दुर्नीति।

(४१) प्रनत--(प्रणत) शरणागत। किंकर--सेवक। कोक--चकवा। पीयूषा--अमृत। सुधा--अमृत। भगीरथ--अयोध्या के एक प्रसिद्ध सूर्यवंशी राजा। कपिल मुनि के शाप से जले हुए सगर-वंशी राजाओं का उद्धार करने के लिए भगीरथ ही गंगा को पृथ्वी पर लाए थे। बिधु--चन्द्रमा।

(४२) सरोरुह--कमल। अजिन--मृगचर्म। असन--(अशन) भोजन। दाहें--सन्ताप। सोधेहुं--खोज लिया। कलि--कलह, आपसी फूट या बिगाड़। कुजंत्र--(कुयंत्र) बुरा मंत्र, अभिचार, ठोटका। ठाटा--आयोजित किया। बारह बाटा--(मुहावरा है) छिन्न-भिन्न करना, नष्ट भ्रष्ट कर देना। घालेसि--मार डाला।

(४३) प्रबोध--समझाना। गरुइ--गम्भीर। सिष--शिष्य। अनिमादिक--अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ हैं--अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व। जथा--(यथा) जिस प्रकार। सपरिजन--कुटुम्ब सहित। बिलखाहिं--दुःखी होना।

(४४) सुरभि--सुगन्ध। सुर-सुरभी--देवताओं की गाय, कामधेनु। सुरेस--(सुरेश) इन्द्र। सची--(शची) इन्द्राणी।

त्रिविध वयारी——शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु। स्रक——माला। वनितादिक——स्त्रियाँ आदि। चकई——चकवी। चक——चकवा। भिनुसार—प्रातः काल। राखे भा भिनुसार——प्रकृति के नियमानुसार चकवा-चकवी का रात्रि में कभी संयोग नहीं होता। यदि कोई उन्हें जबरदस्ती एक पिंजड़े में बन्द कर दे तो भी वे रात्रि में कदापि नहीं मिलेंगे, बल्कि एक-दूसरे से मुंह फेरे हुए सवेरा कर देंगे। उसी प्रकार मुनि के प्रताप से आश्रम में सम्पत्ति (रूपी चकवी) आ तो गई किन्तु भरत (रूपी चकवा) उससे उदासीन हैं। निमज्जन—डुब कर किया जाने वाला स्नान। कर दीन्हे लागू——हाथ पकड़े हुए, सहारा लिए हुए। अमाया——छल-कपट रहित। जलद——बादल।

लंका दहन

(४५) बसन——(वसन) वस्त्र। बटोरि——इकट्ठा करके। तमीचर——राक्षस। खोरि खोरि——गली-गली। लंगूर——(लांगूल) पूंछ। क्रूर——(कूर) दुष्ट। तूर——(तूर्य) तुरही। बालधी——पूंछ। विंध——विन्ध्याचल पर्वत। दवारी——(दावाग्नि) वनों की आग। लंक——लंका। लीलिबेको——निगलने के लिए। रसना——जिह्वा। व्योम बीथिका——आकाश मार्ग में। भूरि——अधिक। धूमकेतु—पुच्छल तारे। उघारी है——निकाल ली हैं। दामिनी——बिजली। कलाप——समूह। मेरु——सुमेरु। कृसानु——(कृशानु) आग। सरि——नदी। जातुधान——(यातुधान) राक्षस। प्रजारी है—जलाया है। बबुक—आग की लपटें। बबुकारि देते—आवाज लगाते हैं। निकेत—घर। भोरे—भोले।

(४६) छोरो——(छोड़ो) खूंटे से खोल दो। महिष——भैंसा। वृषभ——बैल। धूमधुंध अंध——धुंए के कारण जिसकी दृष्टि बेकार हो गयी है। वारि——(वारि) जल। तोंसियत——तपे जाते हैं। झौंसियत——झुलसे जा रहे हैं। झारही——आग की लपटों से। विराट उर——विराट पुरुष के हृदय में। सुखरांक——सुखों से हीन। ओत——आराम, चैन मनाक—तनिक भी। रजाय——आज्ञा। रसायनी——वैद्य

सूनु—पुत्र । सोधि—शुद्ध करके। सरवाक (शराव) मिट्टी की प्याली। वुट—बूटी। पुटपाक—यह आयुर्वेद का पारिभाषिक शब्द है। वैद्य लोग एक मिट्टी के पात्र में औषधि रखकर उसे पात्र से ढक देते हैं। तदनन्तर उस पर मिट्टी का लेपकर आंच में रख देते हैं जिससे अन्दर ही अन्दर औषध पक जाती है। वैद्यक की इस प्रक्रिया को 'पुटपाक' कहा जाता है। जातरूप—सोना । मृगांक—मृगांक रस जो राजयक्ष्मा (राजरोग) की एक औषधि है।

सीता का विरह वर्णन

(४७) कनगुरिया—छोटी उँगली। मुंदरी—(मुद्रिका) अंगूठी।

राम नाम की महिमा

काम-तरु—कल्प-वृक्ष। देवताओं का एक वृक्ष जिसके लिए कहा जाता है कि वह सब इच्छाओं को पूर्ण कर देता है। कामधेनु—देवताओं की एक गाय, जो सारी कामनाओं को पूरा करती है। चारिफल—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष।

आत्म चरित

जाय—पैदा करके। ललाई—लालायित होना। बारक—(बार+एक) एक बार। पेट खलाई—क्षुधा प्रदर्शन के लिए पेट पिचका कर। खोरि—त्रुटि, दोष। मंगन—भिक्षुक। परिताप—पश्चाताप, दुःख। चनक—चना। सिहात—ईर्ष्या करते हैं। ललात—ललचाते हुए। बिललात—रोते हुए। गनक—(गणक), ज्योतिषी।

(४८) अवधूत—संन्यासी । सरनाम—प्रसिद्ध। ओऊ—और। मसीत—मस्जिद। मरिवेइको—मरने को ही। कुसूत—अव्यवस्था। पाहि—रक्षा करो।

सेनापति

ऋतु वर्णन

(५१) वरन—वर्ण, रंग। चतुरंग—हाथी, घोड़े, रथ, पैदल इन चार अंगों वाली सेना। लहियत है—प्राप्त है। बंधी—

सखी। कोकिल—कोयल । सौंधे—गन्ध द्रव्य । विलास—वैभव । मलय—एक पर्वत। माधव—वसंत । दहन—जलाने वाले। काम क्वैला परचाए हैं—कामदेव ने कोयले दहका दिये हैं। वृष—वृष-राशि। तरनि—(तरणि), सूर्य। (गर्मी के दिनों में सूर्य ज्येष्ठ मास में वृष राशि पर रहता है)। विकराल—प्रचंड।

(५२) तपति—तप रही है। झरनि—लपटों से। सीरी—शीतल। पौनौ—पवन भी। छिति—(क्षिति) पृथ्वी। जलै है—(१) जल रहा है, (२) जल ही जल है। तिन–(तृण), तिनका। हर्यौ है–(१) नष्ट कर दिया है, हर लिया है। (२) हरा हो गया है। दारुन—(दारुण), प्रचण्ड। तरनि—(तरणि) (१) सूर्य, (२) नाव। सूख पावैं—(१) सूख जाती है, (२) प्रसन्न होती हैं। झर—(१) आग की लपटें, (२) वर्षा की झड़ी। भादव—(१) भादों का महीना (२) दावाग्नि सी लग गई। सेक—(१) गर्मी, (२) सिंचन।

(५२) झमक—सुन्दर आभा। कलापी—मोर। कल—सुन्दर। सीकर—बूंद। उनए—उमड़े। दिसान—दिशाओं में। सेत—(श्वेत), सफेद। स्रृंग—(शृंग) चोटी। फटिक–(स्फटिक), श्वेत वर्ण का पाषाण। अडम्बर—सूर्योदय या सूर्यास्त के समय आकाश में दिखाई देने वाली लाली। छछरि—बौछारें। उछार के—उछालते हुए।

(५४) सलिल—जल। सहल– कोमल। सुधा के महल—चूने से पुते हुए महल से तात्पर्य है। तूल—रुई, कपास। पहल—तह, परत। रजत—चाँदी। तिमिर—अंधकार। तुषार—पाला। सून—(सुन्न) ठिठुरना। द्यौस—(दिवस) दिन। भाजि—दौड़ जाता है। कोक—चकवा। कोकी—चकवी। चकवा-चकवी के विषय में यह प्रसिद्ध है कि रात्रि में ये बिछुड़ जाते हैं और प्रातः होते ही मिल जाते हैं। जौं लौं कोक......फिरि कै—जब तक चकवा चकवी से मिलने जाता है तब तक रात्रि हो जाती है। इसलिए चकवा को मार्ग से ही वापस लौटना पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि शिशिर ऋतु में दिन बहुत छोटे

होता है। दिन की लघुता की व्यंजना कोक और कोकी के प्रसंग से की गई है।

बिहारी

भक्ति

(५७) झाँई—(१) परछाहीं, आभा, (२) झाँकी, झलक। स्याम—(१) श्याम वर्ण, (२) श्री कृष्ण चन्द्र. (३) काले रंग का पदार्थ अर्थात् पाप। हरित दुति—(हरित द्युति) (२) हरे रंग वाला (२) हरा भरा, (३) हृत-द्युति, तेजहीन, प्रभावशून्य। जिहि—जिसमें। स्याम रंग—(१) श्री कृष्णचन्द्र के अनुराग में (२) काले रंग में। उज्जल—(उज्ज्वल), (१) निर्मल। (२) श्वेत। निहारि—देख। बिहारि—विहार कर, धारि—धारण कर (निहारि बिहारि, धारि, आज्ञार्थक क्रियायें हैं)। मन-काँचे—कच्चे मन वाला। साँचे—सच्चे ही से। राँचे—प्रसन्न होते हैं, रंजित–हो रहे हैं। निरधार—निश्चय, सिद्धान्त। बिरिया—समय, बेला। करिया—केवट। पीठि दै—मुँह फेरकर। गुण—गुण, डोरा, सत्, रज और तम नामक तीन गुण। चंग—पतंग। रंग—तरह से। वारन—हाथी। गुहारि—पुकार। देखिवी—देखना है। बींधे—उलझे। गोधे—गीधना, एक वार कोई लाभ उठाकर बार-बार उसका लोभ करना।

(५८) कुबत—बुराई, निन्दा। कुटिलता—बुराई। त्रिभंगी—तीन जगह से टेढ़े, कटि, ग्रीवा तथा चरण से झुके हुए श्रीकृष्ण की मुद्रा विशेष। कीजत—की जाती है।

नीति

सगुनी—गुणशाली, बत्ती सहित। सनेह (स्नेह)—प्रेम तेल। बिससिए—विश्वास किया जाय। नये—झुके हुए। आँटे—दाँव। अर्क—मदार का वृक्ष।

(५९) अर्क—सूर्य। वरु—चाहे। चटक—चटकीलापन, चमक-

दमक। रज--धूलि। राजस--रजोगुण अर्थात् गर्व, क्रोध आदि। कनक--सोना। कनक--धतूरा। मादकता--उन्मत्त करने की शक्ति।

अन्योक्ति

हवाल--दशा। वाय--वावड़ी। ओथरे--छिछले।

(६०) कुरंग--हिरन, वुरे रंग वाले, बुरी रुचि वाले। पट--वस्त्र। भखु--भक्ष्य, भोजन। परेई--कपोती, कबूतरी। परेवा--पारावत, कबूतर। सुकृत--पुण्य। विहंग--आकाशगामी, स्वच्छन्द-बिहारी (पक्षी) (२) दूरदर्शी। पंछीहिं--(१) पक्षियों को अपने पक्ष-वालों अर्थात् स्वजनों को।

शृंगार

को घटि--घटकर कौन है ? वृषभानुजा (१) (वृषभानु+जा)--वृषभानु की पुत्री अर्थात् राधा, (२) वृष राशि के सूर्य से उत्पन्न, (३) वृषभ+अनुजा--बैल की बहन अर्थात् गाय। हलधर (१) बलराम शेष नाग के अवतार, (२) बैल। गाँठ--ईर्ष्या। दई--दैव। उरबसी--उर्वशी अप्सरा, उरबसी हृदय में बसी हुई। उरबसी--हृदय में पहनने का आभूषण विशेष। बतरस--बातचीत का का आनन्द। लाल--श्री कृष्ण। लुकाइ--छिपाकर। नटि--अस्वीकार करना। रूप-चन्द्रिकनि--चन्द्रिकाओं से, मोर पंखों में जो चन्द्राकार चमकीले चिह्न होते हैं, वे ही चन्द्रक कहलाते हैं। विहारी ने इसी चन्द्रक शब्द के स्त्रीलिंग का प्रयोग किया है। ससि सेखर (शशि-शेखर)--महादेव जी। अकस--अवस बैर। दीठि--दृष्टि, आतप--धूप।

(६१) आषत--अक्षत, चावल। कुज--मंगल ग्रह। भाजि--भाग कर। आनन--मुख। ओप--सौन्दर्य। उजास--प्रकाश। तर्‌यौना (१) तर्‌यो+ना तरा नहीं, मुक्त नहीं हुआ (२) कर्णभूषण विशेष, ताटंक। स्रुति--(श्रुति) वेद की श्रुति (२) कान। नाकबास--(१) स्वर्ग निवास, (२) नासिका का निवास, उच्च पद। बेसर--(१) नासिका, आभूषण विशेष (२) खच्चर अर्थात् महा अधम प्राणी। मुकुतन--(१) जीवन-

मुक्त सज्जनों (२) मुक्ताओं। घर–(धरा), पृथ्वी "धरा" के स्थान पर 'धर' का प्रयोग भी व्रज भाषा के प्रायः सभी कवियों ने किया है। सबीढ (अरबी––शबीह)–चित्र, चितेरे–चित्रकार। कूर––विकृत बुद्धि वाले। विरह

आड़े––बीच में। आले––गीले। ढिग––पास। चसमा––ऐनक। सीतकर–(शीतकर) शीतल किरणों वाला चन्द्रमा, आँक विहीनीयों–अक्षर विहीन भी, कोरा होते हुए भी।

(६२) प्रकृति––कहलाने––आकुल होकर। एकत इकट्ठे, दाघ–ग्रीष्म का आतप। निदाघ––ग्रीष्म ऋतु। घरिहि–घर में ही रहने वाले। जंवाई––दामाद। खरो––स्पष्टतया। रनित (रणित)––बजती हुई। भृंग––भ्रमर। दान––हाथी का मद। कुंजर––हाथी, स्वेद––पसीना। मकरंद––पराग। मधु––पुष्परस। विरमाय––विराम करके, विश्राम करके।

दीनदयाल गिरि

अन्योक्ति

आराम––(१) उपवन, (२) विश्राम। सुमन–(१) पुष्प, सहृदय। अभिराम––सुन्दर। द्विज––(१) पक्षी, (२) ब्राह्मण। माधव––वसन्त ऋतु (२) श्रीकृष्ण। सुक––(शुक) (१) तोता, (२) शुकदेव। बिलसै––सुशोभित होते हैं। सुसाखि––(१) सुन्दर वृक्ष, (२) श्रेष्ठ-वंश। दाहत हौं––जलाते हो, पीड़ित करते हो। कहा–क्यों। माखि–क्रुद्ध होकर। दाया––दया। मित्रहु–सूर्य भी, (२) मित्र भी (सखा)। पावस–वर्षा। चपला––विद्युत, (२) लक्ष्मी (राधा)। जुत––युत (सहित)। नीलकण्ठहु––(१) मोर को भी (२) शिव को भी। अम्बर––(१) आकाश, (२) वस्त्र। द्विजराज––(१) चन्द्रमा, (२) श्रेष्ठ ब्राह्मण। कवि––(१) शुक्र ग्रह, (२) कवि। गुरु––(१) बृहस्पति नामक ग्रह, (२) गुरु। संदोह––राशि, समूह।

(६५) केरे––के। कुवलय––कमल। भासैं––दिखाई पड़ते हैं।

कोकनद––लाल कमल। कोक––चकवा जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि वह रात को अपने जोड़े से अलग हो जाता है। जगप्रान––वायु। अवदति––शुभ्र, उज्ज्वल। रावरी–आप की। ख्यात––प्रसिद्ध। सुआप–(१) सुन्दर जल (२) स्वयं। कुन्द––सफेद वर्ण का एक पुष्प। मिस–बहाना। जस––(यश) कीर्ति। धराधर––पर्वत। पारावार––समुद्र। क्रीट––मुकुट। गुनाह––दोष।

(९६) घनस्याम––घनश्याम (१) बादल, (२) श्रीकृष्ण। सुर–(१) देवता, (२) स्वर। कानन––(१) वन, (२) कानों में। चातक––पपीहा जो वर्षा काल में स्वाति नक्षत्र की बूंद से बड़ा प्रसन्न होता है। सर––सरोवर। जीवन––जल, जिन्दगी। निरदै––निर्दय, निष्ठुर। हरि––हरकर, समाप्त करके। कल्लोल––क्रीड़ा, उल्लास। बरजै––रोके। मराल––हस। पिछानति––पहचानती हो।

(९७) पारस––एक कल्पित पत्थर, जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि यदि उससे लोहा छुवाया जाय तो लोहा सोना बन जाता है। खानिक––खान का, वंश का। कुधातु––लोहा। नम––नम्र। नाहर–सिंह, टेसू का फूल। सेमल––एक बहुत बड़ा वृक्ष जिसमें लाल फूल होते हैं। इन फूलों में गूदा नहीं होता केवल रूई ही होती है। मालती––प्रसिद्ध घनी लता और उसके सुगंधित फूल। रीस––बराबरी, स्पर्धा। सुकन–शुकों तोतों। दारों–दाड़िम, अनार। कल्लोलि––आमोद-प्रमोद कर लो। दसन––(दशन) दाँत।

(९८) कीट–क्रीड़ा। राता––लाल। रत हो–अनुरक्त हो। चपल–चंचल, परछेद–दूसरों के दोष। दुराया––छिपाया। मधुप––(१) भ्रमर (२) कामी पुरुष। वुध––बुद्धिमान पंडित। सासन––कष्ट। बिन सिर दै––बिना कष्ट उठाये। लाली––लालिमा, सौंदर्य। ताए––तप्त, झुलसे हुए।

(९९) अलि–भ्रमर। मित्र––सूर्य। पास–फन्दा। विधि को तात–ब्रह्मा का पिता (ब्रह्मा की उत्पत्ति कमल से मानी गई है।) सेयो–सेवन

किय । बूड्यो–डूब गया । चकई—(१) चकवी, (२) आत्मा । सर—(१) जलाशय, (२) ब्रह्म । कोह—क्रोध । अम्बोह–अम्बुधि—समुद्र ।

रत्नाकर

भीष्म–प्रतिज्ञा

(७२) गीति—प्रशंसा । भीति—(भित्ति) दीवार, भीति–भय । कैतो–या तो । पारथ–(पार्थ) अर्जुन । प्रचार्यौ–कहा, घोषित किया । दरि–नष्ट करके । स्वत्व–शक्ति, अस्तित्व । पंचनि कौ स्वत्व पंचतत्त्व में मिलैहौं मैं—नाश कर दूंगा । पंचनि—पाण्डव । सांत—शान्त । सांतनु—(शान्तनु) भीष्म के पिता । बाजी—(बाजिन) घोड़ा । बितुंड—हाथी । लुंडमुंड—क्षत–विक्षत । मीनिलौ–मछली के समान । हिराये–खोये जैसे । अदूरदरसीनि—अदूरदर्शी, मूर्ख ।

(७) लच्छ–लक्ष्य, लाख संख्या । सपच्छ—पंख युक्त फनीनि-सर्प । सव्यसाची—अर्जुन । बहि—बढ़कर । ठहि—स्थिर हो जाता है, रुकता है । नीठि–कठिनता से, मुश्किल से । कानि—मर्यादा । कगार–किनारा । धाक–प्रभाव । रंचक—रंचमात्र, थोड़ा सा । चष—चक्षु, नेत्र । सूक–शक्र इन्द्र । अक्र—निक्रिय स्तब्ध । थहरत हैं—कांप जाते हैं । कलाकर—(कला + आकर) चन्द्रमा । अखंड—सम्पूर्ण । मंडि-मंडित होकर शोभित हुआ । चंडकर—प्रचंड किरणों वाले सूर्य । कोल–बाराह–जो पृथ्वी को थामे हुए माने जाते हैं । कच्छ–कछुआ जो पृथ्वी के नीचे माने जाते हैं । कुंजर—हाथी, जो दिशाओं के रक्षक हैं । कहलि–व्याकुल होकर । हलि–हिलकर, कुपित होकर । खीस–दाँत । फनीस, (फणीश(–शेषनाग । फुलिंग–स्फुलिंग, चिनगारी ।

(७४) मुद्रित–बन्द किया हुआ । रुद्र–शिव । मुलकावैं–धीरे–धीरे खोलते हैं । मीड़ि–मलते हुए । उद्रित–ज्वार पर आया हुआ । अद्रि—पर्वत । भहरत है–एकाएक गिरने लगते हैं । टूटते हैं । उद्रित-भहरत है–समुद्र में ज्वार आता है । पर्वत एकाएक गिरने लगते हैं । अतर्क—असत्य । दिवाकर–सूर्य । झँप्यो—छिप गया । गंगा नंद—

भीष्म। वृन्दारक–देवता। बिरथ (विरथ) पैदल। रथांग–पहिया। चेत–ध्यान। हाहा––नम्रतापूर्वक निवेदन। कलित––सुन्दर। त्रपा–लज्जा। समाहे––सामने। पलक––उठ्योई…समेत है––वे एक क्षण टकटकी लगाये रहे। उभय––दोनों।

उद्धव गोपी संवाद

मनभावन––प्रियतम (कृष्ण) झौंरि––समूह।

(७५) उझकि––झाँक कर। पंजनि––पांव के अग्र भाग पर। पेखि–देखकर। छोहनि––क्षोभ, आतुरता। छवै लगी––छाने लगी। गरि गौ––गल गया। गुमाने––अहंकार। गुठान–कुण्ठित, प्रवाहहीन। सिहाने––मुग्ध। स्रमे––शिथिल। सकबके–सकपकाये। सके–शंकित। भभरे––भयभीत। भकुआने––मूर्ख बने हुए। हौले से––घबराये हुए। हूल हुले––भाले की नोंक से भोंकने के कारण पीड़ित से, मानों किसी ने भाले से मारा हो। हरे से––अपहरित, लुटे से। हेरत–खोजते हुए। हिराने से––स्वयं खोये से। सनेस––सन्देश। पगपारिहैं––आयेंगे। जोग–(१) संयोग, (२) योग––साधना। दरिवै कौ––नष्ट करने के लिये। तौपै––तो फिर।

(७) मुकुर––दर्पण। ध्याई––ध्यान करके। जोति––ब्रह्म ज्योति। अलख––अदृश्य, निर्गुण ब्रह्म। सरिहैं––पूर्ण होंगे। अंग-रहित––निराकार। अराधि–पूजा करके। मरीचैं––किरणें। प्रभानि–प्रकाश रश्मियाँ। जुहारि–प्रणाम करके। विरचे––बनाये हुए। सोग सारन कौं––शोक समाप्त करने हेतु। चकोर––चकोर पक्षी रात भर चन्द्रमा की ओर टकटकी लगाकर देखा करता है। कहते हैं यह अपने प्रिय चन्द्रमा के विरह में अंगार चुगता है। जटिल––कठिन। विधान–विधि। लंकनि––कमर में। ललकि––चाव से। हू––भी।

(७७) चेतवारे––चतुर, चेतन। प्रानमूरि––संजोवन बूटी, जीव, औषधि।

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

यशोदा के वचन उद्धव के प्रति

(८०) नवनी––मक्खन । वामा––स्त्री । बेला––समय ।

(८१) रुचिर––सुस्वादु । स्निग्ध––चिकना ।

(८२) वार––(वार) दिन । सेतु–पुल । प्रणय प्रतिमा––प्रेम की मुर्ति । विपिन––वन । भूजात––वृक्ष । कालिंदी––यमुना । सारिका––मैना । कांतकंठा––मधुर स्वर वाली । सदन––घर ।

(८३) युगल––दो, जोड़ा । अनुमिति––अनुमान । समा––मुग्धकारी प्रभाव । कुटिल–घुँघराली । अलकें–बाल । राका शशि–पूर्णिमा का चन्द्रमा । पीयूष–अमृत । यामिनी––रात्रि । विपुल–बहुत । बिटपी–वृक्ष । संकुला––संयुक्त । वापिका––बावड़ी । सद्वांछा––सद्इच्छा ।

(८५) भाविनी––भावी होने वाली (राधा) । सलौनी–सुन्दर । पादपों––वृक्षों । सौरभीले––सुगन्धित । ध्वंस––नष्ट । मंजु––सुन्दर । आदौ––प्रारंभ में ।

(८६) वलित––युक्त । सुबिधु––सुन्दर चन्द्रमा । वनज––कमल । भव्य––सुन्दर ।

(८७) मारा मल्लों सहित गज को––श्री कृष्ण ने चाणूर और मुष्टिक पहलवानों सहित कुवलयापीड़ नामक हाथी को मौत से घाट उतार दिया । जरा––वृद्धावस्था ।

(८७) अहह––दुःख सूचक शब्द । लरू––बछड़ा । जीवोन्मेषी–प्राणदायक ।

(८९) मार्जनीया––क्षमा योग्य । मनोज्ञा (स्त्री)––सुन्दर । जनिता––(स्त्री०)––उत्पन्न । छिन्न-मूला––निर्मूला । मरु–मरुस्थल । मंदाकिनी––गंगा । बोध––ज्ञान । व्यथित––पीड़ित ।

(९०) सदय––दयालु । कौमुदी––चाँदनी । गोमेदक–एक प्रसिद्ध रत्न

मैथिलीशरण गुप्त

कैकेयी का वर माँगना

(९४) भारति--सरस्वती। जगदम्ब— जगत् की माता। साकेत-अयोध्या। हर्षोद्रेक-प्रसन्नता का उत्साह। दिग्पाल-दिशाओं के पालक।

(९५) सृष्टि--रचना। कपाल--मस्तक। औरस—अपनी ही स्त्री से उत्पन्न पुत्र (यहाँ अपने सगे पुत्र से तात्पर्य है।) अर्क--सूर्य।

(९६) षड्यन्त्र—कपटपूर्ण आयोजन। मायिक—जादू भरे। उद्भ्रांत--पागल।

(९७) अर्थानर्थ—इष्ट और अनिष्ट। त्याज्य—त्यागने योग्य। वस्तुतः यहाँ, 'त्याज्य' शब्द का प्रयोग कवि ने ठीक नहीं किया है। 'त्यक्त' शब्द यहाँ पर उचित है। निर्बोध--अज्ञान। द्विजिह्वे--दो जिह्वाओं वाली, सर्पिणी। कुंचित--टेढ़ी।

(९८) भृत्य-दास। निष्काम-निस्वार्थ। अविराम-विना रुके हुए।

(९९) उत्क्रान्ति—विप्लव, अशान्ति। वरवित्त--श्रेष्ठ धन। ज्येष्ठ--अवस्था में बड़ा। बीभत्स—घृणापूर्ण। निष्काम--निस्वार्थ।

(१०१) दग्ध—भस्म। गात—शरीर। प्राणस्फूर्ति—प्राणों की चेतना। अदृष्ट--भाग्य। अरिष्ट—अनिष्ट। तन्तु—डोरा, धागा।

(१०२) शल्य-तेज धार वाले उपकरण। अपत्य--सन्तान। प्रतिशोध—बदले की भावना।

(१०३)—भ्रांत--भ्रमित। मत्त—मतवाली। करिणी-हथिनी। वह्नि--आग। परितोष—सन्तोष।

(१०४) त्वेष—आवेश, उमंग। असि--तलवार। दंशन-दाँत से काटना। चुटीली—चोट खाई हुई।

(१०५) संकल्प--विचार। सम्प्रति--इस समय।

(१०६) थाती—धरोहर। राहित्य--अलगाव। साहित्य--हित या सहित होने का भाव। मनस्वी--विचारवान। दायित्व--ज़िम्मेदारी। पुनीत—पवित्र।

(१०७) कोपना—क्रोध करने वाली। प्रच्छन्न—छिपा हुआ। प्रतिपन्न—घटित।

(१०८) अविलष्ट—जो पूर्वापर विरुद्ध न हो। निष्क्रान्ति—छुटकारा। आद्य—आरम्भ का, आद्यदेव गणेश। पाद्य—पूजनीय व्यक्ति के लिए पैर धोने का जल।

(११०) व्याल—सर्प। अम्ल—खट्टा। रागातीत (राग+अतीत)—विरक्त, राग से परे। निहित—छिपा हुआ। क्षेम—कुशलता। प्रत्यय—विश्वास।

(१११) अलभ्य—अप्राप्य। सभ्य—सभासद, सदस्य। रत्नाकर—समुद्र। संबर—एक दैत्य। व्रणों—घावों। किया था किसने मेरा त्राण—कहा जाता है कि संबर से युद्ध करते समय दशरथ जी के रथ का पहिया निकलने वाला था किन्तु कैकेयी ने (कैकेयी भी दशरथ के साथ गई थी) उस पहिये को नहीं निकलने दिया। इस पर ही दशरथ जी ने प्रसन्न होकर उसे दो वरदान माँगने का अधिकार दिया था।

(११२) कमलाक्षि—कमल से नेत्रों वाली। चिरसाक्षि—सदा गवाह रहने वाले।

(११३) गरल—विष। उरगी—सर्पिणी। मेख—खूंटा।

(११४) मिलेंगे तुम्हें तीन वरदान—राज्य, राम वनवास और राजा दशरथ का मरण। प्रतीति—विश्वास।

(११५) निःस्पृह—निःस्वार्थ। प्रतिध्वनि—गूंज। प्रासाद—भवन। अनुनाद—प्रतिध्वनि। चन्द्रालोक—चाँदनी। भावी शव-परिधान—भावी मृतक वस्त्र (कफन)। सौंध—महल, भवन।

(११६) प्रतिभात—प्रकाशित, प्रदीप्त। विरूपाक्ष—तीन नेत्रों वाले शंकर।

जयशंकर प्रसाद

उद्‌बोधन

(११६) विभावरी—चांदनी रात। कुल-कुल—पक्षियों के पालन का स्वर। किसलय—कोंपल। मुकुल—कली। अलक—बाल।

मलयज—मलय पर्वत से आनेवाला शीतल मंद सुगंध समीर। वसुधा—पृथ्वी। नीड़—घोंसला।

(१२०) प्राची—पूर्व दिशा। जलधि—समुद्र। अन्तरिक्ष—आकाश। तुहिन—पाला, ओस।

वरुणा की कछार

कछार—नदी का तट-प्रदेश। विराग—विरक्ति प्रादुर्भाव—उत्पत्ति। पार्थिव—सांसारिक। निदान—उपचार। आरण्यक—वन का, यहाँ विराग से तात्पर्य है। तथागत—भगवान बुद्ध। अमिताभ—(बुद्ध) अतीव आभा वाले। देवकर—भाग्य। छोड़कर जीवन के अतिवाद··सुगति—सुधार। भगवान बुद्ध के अनुसार दो अन्त हैं। पहला काम या विषय-वासनाओं में डूब जाना और दूसरा तपस्या द्वारा शरीर को क्लेश देना। बुद्ध ने इन दोनों अंतों को अत्यन्त हीन, ग्राम्य, अनार्य और अनर्थ-संहित बताया है। इसलिये दोनों को त्यागकर मध्यम प्रतिपदा (मध्यम) मार्ग अपनाने का उपदेश किया। अभिनन्दन—स्वागत।

(१२३) दिगन्त—दिशाओं की सीमा।

भावी शिशु के स्वागत में

कुटीर—कुटी। पुआलों—धान आदि के दाने झड़े हुए डंठल। वातायन—झरोखे। प्राचीर—दीवार। पर्णमय—पत्तों से बने हुए। अभ्र—बादल।

(१२४) प्रतिवर्तन—घूमना। अहेर—आखेट, शिकार।

(१२५) निर्वसना—नग्न। फेन—झाग। वदन—मुख। मसृण—कोमल। चिकना। स्मिति—मुसकान। प्रवाल—मूँगा। निर्विकार—निर्दोष।

प्रयाण गीत

(१२६) हिमाद्रि—हिमालय पर्वत। तुंग—उच्च। श्रृंग—चोटी। भारती—सरस्वती। अमर्त्य—अमर। प्रशस्त—श्रेष्ठ, भव्य। विकीर्ण—बिखरी हुई। अराति—शत्रु। बाडवाग्नि—समुद्राग्नि, समुद्र के भीतर की आग या ताप। भूगर्भ के भीतर जो [illegible] है उस।

का ताप कहीं-कहीं समुद्र के भीतर जल को खौलाता है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

सरस्वती बन्दना

(१२८) वीणा वादिनि—वीणा बजाने वाली सरस्वती। कलुष-पाप। मंद्ररव—गंभीर शब्द।

जागो एक बार

(१२९) समर-युद्ध। सैन्धव-सिन्ध देश के। चमू-सेना। दुर्जय-अपराजेय। स्यार—गीदड़। सत् श्री अकाल—सिक्खों का धार्मिक मन्त्र या नारा। अनल-अग्नि। तीनों गुण-सत्व, रज और तम। ताप-त्रय—दैहिक, दैविक और भौतिक सन्ताप। मृत्युंजय—मृत्यु को जीतने वाले। व्योमकेश—महादेव, शिव। सप्तावरण-सात लोक। सहस्रार-हठयोग के अनुसार सातवाँ चक्र जिसकी स्थिति ब्रह्मरंध्र में मानी गई है। कुंडलिनी को उद्बुद्ध करके सहस्रार में ले जाना ही योग का चरम लक्ष्य है। मेषमाता—भेड़। निर्निमेष—अपलक।

(१३०) अभिशप्त—शापित; हतभाग्य।

सन्ध्या सुन्दरी

(१३१) दिवसावसान—(दिवस + अवसान)-दिन की समाप्ति तिमिरांचल—अंधकार रूपी आँचल।

(१३२) उत्ताल—ऊँचा। कमनीय—सुन्दर। विहाग—एक राग जो आधी रात को गाया जाता है।

सुमित्रानंदन पंत

निष्ठुर परिवर्तन

(१३३) निष्ठुर—क्रूर। तांडव—शंकर का प्रलयकालीन नृत्य। [illegible]—घूमता। नयनोन्मीलन (नयन + उन्मीलन)-आँख का खोलना। निखिल—सम्पूर्ण। वासुकि—नागराज। अलक्षित—अदृश्य। विक्षत-

आहत । वक्षस्थल—छाती । फेनोच्छ्वसित—झागों से पूर्ण । स्फीत—बढ़ा हुआ, तीव्र । फूत्कार—फुफकार । जगती—संसार । कंचुक—साँप की केंचुल । विवर—बिल, घर । विश्वजित—संसार विजेता । नृशंस—क्रूर । संसृति—सृष्टि । उत्पीड़ित—दुखी । पद-मर्दित करना—पाँव से कुचलना ।

(१३७) टलमल—प्रकम्पित । विकच— विकसित । काल-कृमि—नाशरूपी कीड़ा । स्पन्दित—कंपित ।

(१३८) कटाक्ष—वक्र दृष्टि । निसर्ग—प्रकृति । निर्भर—पूर्ण । अभ्रध्वज–बादलों को छूनेवाली ध्वजाएँ हैं जिसकी । दिग्भू—दिशा और पृथ्वी । पोतों—बच्चों । उडुगन—नक्षत्र समूह । आलोड़ित—मथित । अम्बुधि—समुद्र । मुग्ध—मोहित । भुजंगम—सर्प । इंगित—संकेत । गजाधिप—बड़ा हाथी । विनतानन (विनत आनन)—नम्र मुख । वाताहत—वायु से विक्षत (घायल) । आर्त—दुखित । गुरु—भारी । कातर—व्याकुल । चीत्कार—चिल्लाहट । आक्रान्ति—आक्रमण ।

(१३९) हर्म्य—महल । उलूकों—उल्लुओं । झिल्लियों—झींगुरों । मारुत—वायु ।

लहरों का गीत

(१३९) फेनिल—झाग से युक्त । पुलकावलि–रोमांच । पुलिन–तट ।

भारत माता

(१४१) दैन्य—दीनता । विषण्ण—खिन्न । प्रवासिनी—परदेशिनी । लुंठित—लोटा हुआ । सहिष्णु—सहनशील । कुंठित—क्षुब्ध । क्रंदन–रोदन । शरदेन्दु—शरद् ऋतु का चन्द्रमा । तिमिरांकित–अंधकाराच्छन्न । वाष्पाच्छादित—गर्म आहों से भरा हुआ ।

(१४२) उपमित—उपमा दी गई है जिसकी । मूढ़–मूर्ख, [illegible] समझ में यह न आए कि अब क्या करना चाहिये । स्तन्य—[illegible] सुधोपम—अमृत के समान ।

बापू

आलोकित— प्रकाशित। मंडित—विभूषित। पाशवता—हिंसा-वृत्ति, पशुता। आह्वान—पुकार। भूतवाद—भौतिकता। सोपान—सीढ़ी। युग विवर्त—युग परिवर्तन।

महादेवी वर्मा

गीत

(१४४) अवसाद—दुःख। उपहार—भेंट। अनन्त—शाश्वत। मणि-दीपक—मणियों के दीपक; तारों से तात्पर्य है। शूलों—काँटों। सौरभ—सुगन्ध।

(१४६) तम-तमाल—अंधकार रूपी वृक्ष। खारे—नमकीन। मुकुलों—कलियों। आराध्य—पूज्य। द्वैत—'दो' की भावना। अलग-अलग होने का भाव। अमा—अमावस्या की रात्रि।

(१४७) तिल—पुतली (नेत्रों की)। आर्द्र—गीली। उन्माद—पागलपन। हाट—बाजार। सहेजो—सँभालो। शतदल—कमल।

(१४८) उपल—पत्थर, ओला। अजिर—आँगन। अलिन्द—आँगन। अक्षत—चावल। धूप—एक प्रसिद्ध मिश्रित गंध द्रव्य जिसके जलाने से सुगन्ध देने वाला धुंआ निकलता है। अर्घ्य—पूजन का जल। नैवेद्य—प्रसाद। अन्तर्हित—लीन। अर्चित—पूजित। मनके—माला के दाने। प्रस्तरों—पत्थरों। मुखर—बोलता हुआ। स्पन्दन—कम्पन। दिग्भ्रान्त—दिशाओं में भटकी हुई। प्रहरी—पहरेदार।

(१४९) प्रभाती—जागरण का राग।

रामधारी सिंह 'दिनकर'

दानी कर्ण

(१५१) विक्रमी—पराक्रमी। अमोघ—अचूक। अनायास—[illegible]ही। विश्रुत—प्रसिद्ध। अवलम्ब—आश्रय। न्यास—धरोहर। पताका—झंडा। [illegible]—कसौटी।

(१५२) जाह्नवी--गंगा। मुद्रित--बंद। आकटक--मध्य भाग तक। पारद--पारा नामक धातु। वीरुध-वितान--लताओं का झुरमुट। अनुचर--सेवक।

(१५४) साकल्य--हवन-सामग्री।

(१५५) निस्त्राण--अरक्षित, असहाय।

(१५६) अपवाद--नियम विरुद्ध। तनुत्र--कवच। दैवीय--स्वर्गीय। अवहेलना--अपमान। गर्त--गड्ढा। परिभव--अपमान। द्रोण देव से हो निराश--कर्ण ने द्रोणाचार्य से विद्या सिखाने की प्रार्थना की थी किन्तु गुरु द्रोण ने उन्हें 'शूद्र' समझकर इंकार कर दिया। वन में भृगुपति........पाया--तदनन्तर कर्ण भृगुपति (परशुराम) के पास धनुर्विद्या सीखने गये। परशुराम ब्राह्मणेतर को विद्या नहीं देते थे। कर्ण ने अपना परिचय उन्हें ब्राह्मण के रूप में दिया और विद्या सीखनी प्रारम्भ कर दी। एक बार परशुराम कर्ण की जंघा पर अपना सिर रखे सो रहे थे। कर्ण की जंघा में किसी कीड़े ने काट लिया जिससे रक्त निकलने लगा, किन्तु कर्ण ने कोई परवाह न की। जागने पर परशुराम ने कर्ण की जंघा से रक्त बहते देखा। कर्ण ने जब सब बात बताई तो उन्होंने कहा तू अवश्य ही क्षत्रिय है। ब्राह्मण इतना कष्ट-सहिष्णु नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने यह शाप दिया कि उनसे सीखी हुई विद्या उसके (कर्ण के) कोई काम नहीं आएगी।

(१५८) अप्रतिम--अद्वितीय। कुरुपति--दुर्योधन। निःश्रेणि--सीढ़ी। पृथुल--चौड़ी। उद्वेलित--व्याकुल। त्वचा--खाल।

(१६०) क्लिन्न--गीला।

जिसकी